श्री वल्लभ सूरि जैनसाहित्य माला–पुष्प ३

बंगाल का आदि धर्म

मूल बंगला लेखक :—

श्री प्रबोधचन्द्र सेन एम. ए.

★

अनुवादक :—

पंडित श्री हीरालाल जी दूगड़ जैन;

व्याख्यान-दिवाकर, विद्याभूषण

न्यायतीर्थ, न्यायमनीषी,

स्नातक

★

प्रस्तावना लेखक :—

प्रो० पृथ्वीराज जैन एम. ए.

Shri Vallabha Suri Smaraka Nidhi,
89 Tambakanta, Bombay 3.

Shree Vallabha Suri Jain,
Literature Series Pushpa 3

बंगाल का आदि धर्म

मूल बंगला लेखक :—

श्री प्रबोधचन्द्र सेन एम० ए०

अनुवादक :—

पं० श्री हीरालाल जी दूगड़ जैन,
व्याख्यान—दिवाकर, विद्याभूषण,
न्यायतीर्थ, न्यायमनीषी स्नातक

शुभ आशीर्वाद :-

जैनाचार्य श्री विजयसमुद्र सूरि

आगम-प्रभाकर मुनि श्री पुण्यविजय जी

प्रकाशक :-

श्री वल्लभ सूरि स्मारक निधि ८६ ताम्बाकांटा, बम्बई ३

स्मारक निधि समिति :-

श्री रत्नचन्द चूनीलाल दालिया

श्री रमणलाल नगीनदास पारिख

श्री मोहनलाल दीपचन्द चौकसी

श्री जगजीवनदास शिवलाल शाह

वि० संवत् २०१५ } १००० प्रति { ईसवी १६५८

मूल्य -साठ नए पैसे

मुद्रक :—श्री श्यामसुन्दर, गिरी प्रिंटर्ज़, टाकी रोड, अम्बाला शहर।

दो शब्द

पुस्तक परिचय

इस पुस्तक में तीन लेखों का समावेश है। ये तीनों लेख बंगालदेश के प्राचीन इतिहास पर प्रकाश डालते हैं। इस लिये यदि यह कहा जाय कि ये तीनों लेख एक दूसरे लेख की विषयपूर्ति में सहायक हैं तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। इस दृष्टि को सामने रख कर ही गंगा-जमुना-सरस्वती संगमरूप इन लेखों को इस पुस्तक में संकलन किया हैं। इन लेखों का व्योरा इस प्रकार है :—

१. बंगाल का आदि धर्म लेखक श्री प्रबोध चन्द्र सेन एम. ए. अनुवादक श्री हीरालाल दूगड़।

२. बंगाल में जैन पुरातत्त्व सामग्री—लेखक श्री हीरालाल दूगड़।

३. Jaina Antiquities in Manbhum (मानभूम में जैन प्राचीन सामग्री) by P.C. Roy Chowdhary M.A.B.L.

लेखों का संक्षिप्त परिचय

प्रथम के दो लेख हिन्दी भाषा में हैं तथा तीसरा लेख अंग्रेजी भाषा में है।

१. "बंगाल का आदि धर्म" नामक लेख बंगाली भाषा की मासिक पत्रिका 'विचित्रा' में बंग संवत १३४० (विक्रम संवत १९९०) ज्येष्ठ मास के अंक पृ० ६५६ से ६७३ में बंगला भाषा में प्रकाशित हुआ था। इस लेख का लेखक :—'प्रोफेसर प्रबोध चन्द्र सेन एम. ए.

बंगाली जैनेतर विद्वान हैं। आप ने इस लेख में 'बंगालदेश का प्राचीन धर्म कौन सा था' इस का ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ा खोज पूर्वक विवेचन किया है।

भारत की राष्ट्रभाषा वर्त्तमान में हिन्दी होने से सारे देशवासी इस लेख से लाभान्वित हों, इस विचार से मैंने इस लेख का कुछ आवश्यक सुधारों के साथ राष्ट्रभाषा में अनुवाद किया है। साथ ही जहां जहां इस लेख को अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता प्रतीत हुई है वहां वहां मैं ने अपनी तरफ से टिप्पणियां भी दे दी हैं।

मेरा विचार है कि इन टिप्पणियों से इस लेख की प्रौढ़ता, प्रमाणिकता, रोचकता, तथा सुन्दरता में वृद्धि हुई होगी। मेरी धारणा है कि इस लेख से इतिहासज्ञ विद्वानों को विशेष रूप से जैन धर्म की प्राचीनता सम्बन्धी सामग्री उपलब्ध होगी।

२. "बंगाल में जैन पुरातत्त्व सामग्री" (परिशिष्ट रूप में) प्रथम तथा अंतिम इन दोनों लेखों के सम्बन्ध को जोड़ने के लिये मैं ने इसे लिखा है। इस में जैनधर्म के दोनों मूर्तिपूजक (श्वेताम्बर-दिगम्बर) संप्रदायों में जैन तीर्थंकरों की मूर्ति सम्बन्धी मान्यता के विषय में स्पष्टीकरण है और यह भी बतलाया है कि पुरातत्त्वज्ञ विद्वान "जैन मूर्तियां सम्बन्धी शोध-खोज में विशेष सावधानी और तत्परता से काम लें।

३. "Jaina Antiquities in Manbhum" इस लेख के लेखक एक बंगाली विद्वान हैं। जिन का नाम पी० सी० राय चौधरी है। यह लेख अंग्रेजी की "Amrit Bazar Patrika" में प्रकाशित हुआ था। वहां से साभार उद्धृत किया है। इस लेख में

लिखा है कि बंगालदेश में सर्वत्र जैन मन्दिरों के ध्वंसावशेष तथा जैन तीर्थंकरों, की प्राचीन मूर्तियां बिखरी पड़ी हैं। मात्र इतना ही नहीं परन्तु अनेक जैनमन्दिर तथा जैनतीर्थंकरों, यक्ष-यक्षणियों आदि की मूर्तियां अखंडित रूप में भी अनेक स्थानों पर बिखरी पड़ी हैं। अभी तक इतिहासज्ञों ने इस सब प्राचीन सामग्री की उपेक्षा की है। इस की शोधखोज से तथा इन पर अंकित लेखों को पढ़ने और अभ्यास करने से जैनधर्म के प्राचीन इतिहास पर सुन्दर प्रकाश पड़ेगा।

नम्र निवेदन

आज भारतीय सरकार तथा इतिहासज्ञ विद्वानों ने बौद्ध और ब्राह्मण, वैदिक और पौराणिक इतिहास की खोज के लिये भगीरथ परिश्रम उठाया है तथा उनके प्राचीन स्मारकों के संरक्षण के लिये मुक्त हाथों से धनराशी भी व्यय की है। जिस के परिणाम स्वरूप आज बौद्ध-वैदिक-पौराणिक संप्रदायों का विस्तृत इतिहास विद्वानों के सामने उपलब्ध है। वर्तमान भारत-सरकार ने बौद्धधर्म को सार्वजनिक रूप दे कर बौद्धधर्म की पच्चीससौ वर्षीय जयंति बड़े समारोह के साथ मनाई है और "सारनाथ का बौद्ध-गया मन्दिर" (जो कि सरकार के हस्तांतर्गत था) बौद्धों को सौंप कर उदारता का परिचय दिया है। तथा "महादेव-सारनाथ" के प्राचीन मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया है। इन दोनों कार्यों में सरकार ने अपने निजी कोष से करोड़ों रुपया खर्च करने की उदारता भी दिखलाई है।

परन्तु खेद का विषय है कि जैनधर्म जो भारत का एक प्राचीन धर्म है उसके प्राचीन प्रमाणिक इतिहास की खोज की ओर इतिहासज्ञ विद्वानों ने तथा भारत-सरकार ने जैसा चाहिये वैसा ध्यान नहीं दिया। अतः इतिहासज्ञ विद्वानों को तथा भारत सरकार को चाहिये कि वे इस प्राचीनधर्म के इतिहास की खोज के लिये पूरी उदारता

का परिचय दें। तथा पंजाबदेश के कांगड़ा-किले में जो प्राचीन जैन मन्दिर कांगड़ा के जैन राजाओं ने निर्माण किया था इस समय भग्नावास्था में पड़ा है और सरकार के कब्जे में है। सोमनाथ-महादेव तथा सारनाथ-गया के मन्दिरों के समान भारत सरकार को निजी कोष से जीर्णोद्धार करा कर भारत के जैनों की प्रतिनिधि संस्था आनंदजी कल्याणजी की पेढ़ी को सोंपने की उदारता भी अवश्य करनी चाहिये।

इससे अधिक हैरानी की बात तो यह है कि जैनसमाज का लक्ष्य भी इस ओर नहीं के बराबर है। अतः जैनसमाज की ऐसी लापरवाही भी कोई कम खटकने की बात नहीं है।

मेरी तो यह इच्छा है कि भारत के प्रत्येक प्रांत के जैनधर्म के प्राचीन इतिहास सबंधी शोधखोज के लिये इतिहासज्ञ विद्वानों को शीघ्रातिशीघ्र प्रयास करना चाहिये और भारतीय सरकार को इसके लिये पूरी-पूरी सहायता करनी चाहिये। इस से न मात्र जैनधर्म का वास्तविक प्राचीन इतिहास ही प्रकाश में आयेगा परन्तु भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास में जो खामियां हैं उनमें भी संशोधन होकर भारतीय इतिहास अधिक प्रमाणिक बनेगा और समृद्ध बनेगा। जिस से भारतवर्ष के गौरव में अभिवृद्धि होगी।

अम्बाला नगर
२७-६-५८

हीरालाल दूगड़

प्रस्तावना

लगभग चार वर्ष पूर्व पंजाबकेसरी, भारतदिवाकर, अज्ञान-तिमिरतरणि, कलिकालकल्पतरु, श्री श्री १००८ जैनाचार्य श्रीमद् विजयवल्लभ सूरीश्वर जी का बम्बई की विराट नगरी में ८४ वर्ष की अवस्था में स्वर्गवास हुआ। आप का समस्त जीवन समाज, धर्म एवं राष्ट्र की सेवा भावना से ओत-प्रोत था। जैनसमाज में ऐसे बहुत कम आचार्य हुए हैं जिन्होंने व्यवहार एवं निश्चय का सामाजिक क्षेत्र में भी सुन्दर समन्वय कर हमारे गृहस्थ जीवन को अनेकरूपेण समुन्नत बनाने का भगीरथ प्रयास किया हो। गुरुदेव ने घोर विरोध का सामना करते हुए भी शिक्षा प्रचार, समाज सुधार और जैन साहित्य प्रसार का अनवरत उद्योग किया। उन्होंने एक प्रवचन में कहा था, "डब्बे में बन्द ज्ञान द्रव्यश्रुत है, वह आत्मा में आए तभी भावश्रुत बनता है। ज्ञानमन्दिर की स्थापना से सन्तुष्ट न होवो, उसका प्रचार हो, वैसा उद्यम करो।" यह एक तथ्य है कि गुरुदेव ऐहिक जीवन की अंतिम घड़ियों से कुछ समय पूर्व भी समाज के कार्यकर्ताओं से देश विदेश में जैनधर्म संबंधी उच्चकोटि के साहित्य के प्रचार की योजना पर विचार और कार्यकर्ताओं का इस विषय में मार्गदर्शन कर रहे थे।

ऐसे दिव्यात्मा गुरुदेव के प्रति सच्ची श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने व उनकी अंतिम अभिलाषा को मूर्तरूप देने के लिए श्री वल्लभ सूरि स्मारक निधि की स्थापना और पैसाफंड की योजना जैनसमाज के लिए सौभाग्य एवं गौरव का विषय हैं। यह समिति इस से पूर्व अंग्रेजी में दो पुष्प समाज की सेवा में भेंट कर चुकी है:— 1. Mahavira 2. Jainism. दोनों का उचित स्वागत हुआ है

क्योंकि उनमें संक्षेप रूप से जैनधर्म एवं इतिहास पर शिक्षित जनता के लिए समुचित प्रकाश डाला गया था। अब "बंगाल का आदि धर्म" नामक तृतीय पुष्प समाज के सामने उपस्थित किया जा रहा है।

इस निबंध के लेखक श्री प्रबोधचन्द्र सेन एम० ए० ने ऐतिहासिक, दार्शनिक एवं धार्मिक प्रमाणों द्वारा बंगाल के धार्मिक इतिहास पर ज्ञान वर्धक, रोचक, तथ्यपूर्ण तथा हृदयङ्गम प्रकाश डाला है। निबंध आद्योपान्त पठनीय है। पाठक इस निष्कर्ष पर पहुँचे बिना नहीं रह सकेंगे कि लेखक ने 'नामूलं लिख्यते किञ्चित्' के स्वर्णिम सिद्धान्त का पूर्णरूपेण पालन किया है। उन्होंने अपने पक्ष की सिद्धि के लिए अकाट्य युक्तियां एवं अधिकारपूर्ण उद्धरण दिए हैं। श्री कल्प-सूत्र का कौन वाचक अथवा श्रोता नहीं जानता कि भगवान् महावीर अनेक उपसर्गों को साहस-पूर्वक सहन करते हुए राढ़ भूमि अथवा पश्चिम बंगाल गए थे। ह्यु सांग ने यद्यपि जैनधर्म के विषय में स्पष्ट उल्लेख नहीं किया परन्तु उनके उल्लेखों से निश्चयात्मक अनुमान विद्वानों के लिए अशक्य नहीं। प्रज्ञाचक्षु विद्वान् पंडित सुखलालजी इस बात को स्पष्ट सिद्ध कर चुके हैं कि 'निर्ग्रन्थ' शब्द जैन श्रमणों का ही द्योतक है। ह्यु सांग ने इनका अस्तित्व वैशाली, उत्तरबंगाल, कलिंग व दक्षिण बंगाल में बताया है।

लेखक का अध्ययन विशाल, अनुसंधानात्मक एवं सूक्ष्म है। उन्हों ने बंगाल में वैदिक ब्राह्मण, बौद्ध, शैव, वैष्णव व जैनधर्म के विकास ह्रास का प्रागैतिहासिक काल से प्रामाणिक वर्णन किया है। लेखक का यह निष्कर्ष सम्यक् है कि कलिंगाधिपति खारवेल के समय बंगाल में भी जैनधर्म का प्रचार रहा होगा। प्राचीन पालीसाहित्य का अध्ययन कर लेखक ने यह भी सिद्ध किया है कि उसमें बंगदेश का वर्णन नहीं है और यदि है भी तो भ्रममूलक, परन्तु जैन साहित्य में अंग,

बंग, लाढ के नाम सूर्य-प्रकाशवत् स्पष्ट हैं। पृष्ट ३५ पर लेखक का निष्कर्ष ध्यान देने योग्य है। वे स्पष्टरूपेण लिखते हैं कि ईसा पूर्व पांचवीं शताब्दी के प्रारम्भ से तृतीय शताब्दी अशोक के शासनकाल तक बंगालदेश में जैन व आजीवक धर्म की प्रधानता थी। बंगालदेश में आर्य सभ्यता का पदार्पण बाद में हुआ। ईसवी पूर्व दूसरी शती तक वैदिक आर्य ग्रंथों में बंग जनपद का आर्य भूमियों में उल्लेख नहीं मिलता। पाठकों से मेरी विनती है कि वे पृष्ठ ४७ पर दिए गए सारांश को अवश्य ध्यान-पूर्वक पढ़ें। इस से हमें नवीन अनुसंधान की भी प्रेरणा प्राप्त होगी।

इतिहास के विद्यार्थी हिन्दी में इस निबंध के प्रकाशन का निश्चयरूपेण स्वागत करेंगे। जैनधर्म कभी भारत की सीमाओं के बाहर भी व्याप्त था। भारत में तो हर प्रान्त में इस का प्रचार था। बंगाल, बिहार, उड़ीसा इस के प्राचीन प्रधान केन्द्र माने जा सकते हैं। सम्मेय अथवा सम्मेत शिखर पर २४ में से २० तीर्थंकरों का निर्वाण हुआ था। यह आजकल पारसनाथ हिल के नाम से बंगाल के हजारी बाग़ जिला में है। पहले यह कलिंग में था। अब इस पर्वत के चरण बंगाल में हैं। 'पुराने समय में यह बंगाल से मद्रास तक फैला हुआ था' (T. L. Shah :—Ancient India vol III P. 101) ऐसी मान्यता है कि आचार्य भद्रबाहु भी बंगाल के एक ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। श्री टी० एल० शाह ने Ancient India vol III P. 341 पर लिखा है कि जगत् प्रसिद्ध आचार्य कालिकसूरि (B.C. 74) तथा उनकी बहिन साध्वी सरस्वती बंगाल के थे और वहां से अवन्ती आए जहां राजा गर्द्धभिल ने सती साध्वी पर अत्याचार किया था बृहत् कल्पसूत्र में लिखा है कि भगवान् महावीर के साधु पूर्व में अंग व मगध तक विहार करते थे। इस प्रकार बंगाल व निकटस्थ प्रदेश में जैनधर्म का कभी व्यापक प्रचार था।

इस निबंध का मूल बंगाली से हिन्दी में अनुवाद मेरे मित्र व्याख्यान-दिवाकर, विद्याभूषण, पंडित श्री हीरालाल जी दूगड़; न्यायतीर्थ न्यायमनोषी स्नातक ने किया है। अनुवाद करते समय स्थान स्थान पर ज्ञानवर्धक प्रामाणिक टिप्पणियां दे कर उन्होंने लेख के महत्त्व को वृद्धिगत किया है। इस प्रकार यह सोने पर सुहागे का काम हो गया है। परिशिष्ट रूप में जैन मूर्तियों के विषय में खोजपूर्ण लेख लिखकर अनुवादक महोदय ने ग्रंथ की महत्ता दुगुनी कर दी है। पंडित जी का साहित्यिक प्रयास' जैनधर्म के अध्ययन के प्रति उनकी रूचि व सत्यान्वेषणात्मक दृष्टि स्तुत्य है। साथ में अंग्रेजी का लेख "Jaina Antiquities in Manbhum" इस पुस्तिका के महत्त्व को और भी चारचांद लगाता है।

मैं समझता हूं कि इस पुष्प में सागर को गागर में भर दिया गया है। श्री वल्लभ सूरि स्मारक निधि बम्बई इस विषय में वधाई की अधिकारिणी है। मुझे विश्वास है इस पुस्तक का हिन्दी साहित्यिक क्षेत्र में अच्छा सन्मान होगा।

अम्बाला शहर
२०-६-१९५८

प्रोफेसर पृथ्वीराज जैन एम० ए०, शास्त्री,
श्री आत्मानन्द जैन कालिज अम्बाला शहर
संयुक्त मंत्री—श्री आत्मानन्द जैन
महासभा पंजाब।

बंगाल का आदि धर्म

ईसा की सातवीं शताब्दी के द्वितीय चरण के प्रारम्भ में बौद्ध चीनी यात्री ह्यूसांग ने भारतवर्ष में आकर इस के भिन्न भिन्न प्रदेशों में चौदह वर्ष [ई. स. ६३० से ६४४] तक परिभ्रमण किया था। उस के द्वारा लिखित विवरण से उस समय के भारतवर्ष के धर्म-संप्रदायों के विषय में अनेक बातें जानी जा सकती हैं। पूर्व भारतवर्ष तथा बंगाल देश के धर्म सम्प्रदायों की अवस्था सम्बन्धी उस ने जो कुछ लिखा है यहां उस के प्रधान विवरण को हम संक्षेप से लिखते हैं।

१. वैशाली—यह राज्य वर्तमान बिहार के उत्तर प्रदेश में तिरहुत विभाग में अवस्थित था। मुज़फ़रपुर ज़िले के हाजीपुर महकमे के अन्तर्गत वर्त्तमान बेसार नामक गांव में प्राचीन वैशाली नगरी के ध्वंसावशेष मौजूद है। ह्यूसांग के विवरण से ज्ञात होता है कि ईसा को सातवीं शताब्दी में यहां के वासी विशेष धर्म-परायण थे तथा बौद्ध और अबौद्ध सब एक साथ मिलजुल कर वास करते थे। यहां पर बौद्धों की संस्थाएं [संघाराम मन्दिर आदि] कई सौ की संख्या में थीं। परन्तु उस समय तीन चार संस्थाओं के अतिरिक्त बाकी सब ध्वंस हो चुकी थीं तथा बौद्ध भिक्षुओं की संख्या भी एक दम कम थी। किन्तु * देवमन्दिरों

---

* चीनी यात्री ने अपने यात्रा विवरण में बौद्धधर्म के सिवाय अबौद्धों के मन्दिरों को देवमन्दिरों के नाम से संबोधित किया है। इन देवमन्दिरों में जैन मन्दिरों तथा पौराणिक संप्रदायों के मन्दिरों का समावेश होता है। (अनुवादक)

की अवस्था इन की अपेक्षा अच्छी थी। और इन की संख्या भी कम न थी (there are some tens of Deva temples) पौराणिक ब्राह्मणधर्म के बहुत संप्रदाय थे किन्तु निर्ग्रंथों (अर्थात् जैनों) की संख्या ही रूब से अधिक थी।

२. मगध-(वर्त्तमान पटना और गया जिला) यहां के वासी बौद्धधर्म को मानने वाले थे। यहां पर बौद्धों के पचास संघाराम [बौद्ध भिक्षुओं के रहने के स्थान] थे, एवं उन में दस हज़ार बौद्ध भिक्षु वास करते थे। वे भिक्षु अधिकतर महायानपंथी [बौद्धों के एक संप्रदाय को मानने वाले] थे। देवमन्दिरों तथा पौराणिक ब्राह्मण धर्मावलम्बियों की संख्या कम थी। मगध में जैन संप्रदाय के सम्बन्ध में ह्यूसांग ने स्पष्टतया कुछ भी उल्लेख नहीं किया। किन्तु उस के विवरण से ही ज्ञात होता है कि प्राचीन राजगृह तथा गिरिव्रज (पटना जिला अन्तर्गत आधुनिक राजगिर) नगर के समीप विपुल नामक पर्वत पर एक स्तूप था एवं यहां पर बहुत निर्ग्रंथ (जैन साधु) वास करते थे तथा तपस्यादि करते थे। वे लोग सूर्योदय से ले कर सूर्यास्त तक सूर्याभिमुख हो कर धर्म साधना करते थे (Beal II 158 Walters II 154, 155)। इस के अतिरिक्त नालंदा में भी (पटना जिले में बिहार महकमे के अन्तर्गत बड़गांव नामक स्थान) निर्ग्रंथों का आवागमन था। ऐसा अनुमान किया जा सकता है। (Beal II, 168)

३. ईरण पर्वत--(मुंगेर जिला) मगध से पूर्व दिशा की तरफ़ एक बड़े भारी आरण्य को पार कर ह्यूसांग ने लगभग

ई० स० ६३८ को ईरण पर्वत नामक देश में प्रवेश किया (Walter II, 178 and 335)। यहां पर इस ने दस बारह बौद्ध संघाराम तथा चार हजार से अधिक बौद्ध भिक्षु देखे। इन में अधिकांश हीनयान संप्रदाय के सम्मिति शाखा के अनुयायी थे। पौराणिक ब्राह्मण धर्म के विभिन्न संप्रदायों के बारह देवमन्दिर भी उस ने देखे थे। यहाँ पर ह्यूसांग ने एक वर्ष तक वास किया था।

४. चम्पा-(भागलपुर ज़िला) ईरण पर्वत से यह चम्पा देश में आया। यहां पर भी अनेक बौद्ध संघाराम थे किन्तु अधिकांश ध्वंस दशा प्राप्त कर चुके थे। तथा इन में रहने वाले भिक्षु सभी हीनयान पंथी थे। संख्या भी दो सौ से कुछ अधिक थी। देवमन्दिर प्रायः बीस थे। जैनों के सम्बन्ध में इस ने कुछ नहीं लिखा। किन्तु उस समय चम्पा में जैन धर्मावलम्बी नहीं थे; ऐसा मानना ठीक नहीं है। क्योंकि ह्यूसांग बौद्ध था, इस लिये उस ने बौद्धधर्म का ही विशेषतया वर्णन कर अन्य संप्रदायों के सम्बन्ध में संक्षिप्त उल्लेख मात्र किया है। ऐसी अवस्था में उस की मौनता से ऐसा निश्चित करना उचित नहीं है। यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि आधुनिक काल में भी भागलपुर शहर में एक प्रसिद्ध जैन ❀ मन्दिर है।

५. कजंगल-(आधुनिक राजमहल) ह्यूसांग चम्पा से कजंगल में आया। यहां पर उसने छः सात संघाराम तथा तीन सौ से अधिक

❀ चम्पापुरी में श्री वासुपूज्य भगवान् जैनों के बारहवें तीर्थंकर का अति प्राचीन जैन मन्दिर है। (अनुवादक)

(बौद्ध) भिक्षु एवं दस देवमंदिर देखे थे। जैन संप्रदाय सम्बन्धी उस ने कुछ भी उल्लेख नहीं किया।

६. पौंड्रवर्धन—(उत्तर बंगाल) ह्यू सांग कजंगल से पौंड्रवर्धन में आया। यहां पर इसने बीस संघाराम तथा तीनहज़ार से अधिक बौद्ध भिक्षु देखे। इन में से अधिकतर हीनयान पंथी थे। शेष महायान पंथी थे। प्रायः एक सौ देवमंदिर थे एवं ब्राह्मण धर्मावलम्बी भिन्न भिन्न संप्रदायों में विभक्त थे। परन्तु निर्ग्रंथों❀ (अर्थात् जैन धर्मावलम्बियों) की संख्या ही सब से अधिक थी।

पौंड्रवर्धन नगर से कुछ दूर पर एक स्तूप था ह्यू सांग ने लिखा है कि यह स्तूप अशोक ने निर्माण करवाया था एवं भगवान तथागत बुद्ध ने इस स्थान पर तीन मास निवास कर धर्म प्रचार किया था।

७. कामरूप—(आसाम के अन्तर्गत गोहाटी प्रदेश) चीनी यात्री पौंड्रवर्धन से पूर्व की यात्रा कर एक बड़ी नदी (करतोया) को पार कर कामरूप राज्य में पहुँचा। उस ने लिखा है कि "कामरूप के निवासी सभी देवोपासक हैं। कामरूप में बौद्धधर्म का प्रचार कभी भी न हो सका तथा कामरूप में एक भी बौद्ध-संघाराम नहीं बना। जो बौद्धलोग कामरूप में निवास करते थे वे लोग गुप्त रीति से धर्मोपासना करते थे।" किन्तु ब्राह्मण धर्म के प्रत्येक संप्रदाय के अनुयायियों की संख्या अत्यधिक थी

❀जैन मुनि निर्ग्रंथ के नाम से प्रसिद्ध थे। जिस का अर्थ "गांठ बिना" अर्थात् राग-द्वेष की गांठ के बिना का होता है (Uttradhyayna Lecture Adhyayna XII 16, XVI 2. Acaranga, Pt II, Adhyayna III, 2 and Kalpa-Sutra Sut 130 etc) (अनुवादक)

और देवमंदिर भी सैंकड़ों की संख्या में थे। जैनधर्म सम्बंधी इस ने कुछ भी उल्लेख नहीं किया। संभवत: बौद्धधर्म के समान जैनधर्म का भी उस समय तक कामरूप में प्रचार न हुआ हो।

८. समतट—(श्रीहट्ट-आधुनिक सिलहेट-त्रिपुरा आदि प्रदेश) कामरूप से दक्षिण दिशा को यात्रा करने के बाद ह्य ुसांग समतट में आया। यहां पर बौद्ध तथा अबौद्ध उभय संप्रदायों को मानने वाले लोग वास करते थे। तीस से अधिक बौद्ध संघाराम थे एवं उन में प्राय: दो हजार भिक्षु वास करते थे। ये सब भिक्षु स्थविर संप्रदाय के अनुयायी थे। भिन्न भिन्न संप्रदायों के प्राय: एक सौ देवमंदिर थे किन्तु निर्ग्रंथों की संख्या ही सब से अधिक थी।

समतट की राजधानी (कम्मांत, कुमिला के निकटवर्ती बड़कामता) के समीप एक स्तूप था। ह्य ुसांग के मतानुसार उसे सम्राट अशोक ने निर्माण करवाया था। एवं इसी स्थान पर बुद्ध देव ने सात दिन धर्म प्रचार किया था।

९. ताम्रलिप्ति—(मेदिनोपुर अंतर्गत आधुनिक तमलूक) समतट से पश्चिम दिशा में यात्रा कर ह्य ुसांग ताम्रलिप्ति में आया। यहां पर दस बौद्ध संघाराम थे तथा उन में प्राय: एक हजार बौद्ध भिक्षु वास करते थे। देवमंदिर पचास से अधिक थे। ताम्रलिप्ति नगरी के समीप एक स्तूप था। तथा ह्य ुसांग के मतानुसार इसे भी सम्राट अशोक ने बनवाया था।

१०. कर्ण सुवर्ण—(मुर्शिदाबाद जिला) समतट से उत्तर दिशा की यात्रा कर वह कर्ण सुवर्ण में आया। यहां पर दस बौद्ध संघाराम थे और उन में दो हजार से अधिक बौद्ध भिक्षु निवास करते थे। ये

सभी हीनयान संप्रदाय के सम्मति शाखा के अनुयायी थे। भिन्न भिन्न देवोपासक संप्रदायों के मंदिर प्रायः पचास की संख्या में थे।

कर्ण सुवर्ण नगर के निकट में ही "रक्तमृतिका" नामक एक बहुत बड़ा और प्रसिद्ध बौद्ध संघाराम था तथा इसी संघाराम के निकट कई स्तूप थे। चीनी यात्री के मतानुसार इन सब स्थानों में बुद्धदेव ने धर्म प्रचार किया था एवं उसके बाद सम्राट अशोक ने प्रत्येक स्थान पर एक एक करके स्तूप निर्माण करवाये थे।

११. ओड्र-(उड़ीसा) कर्ण सुवर्ण से यात्री ओड्र देश में गया वहां पर एक सौ से अधिक बौद्ध संघाराम थे एवँ दस हजार महायान पँथी भिक्षु थे। मन्दिरों की संख्या उस ने पचास लिखी है। इस के सिवाए जिस-जिस स्थान पर बुद्धदेव ने धर्मप्रचार किया था उन सब स्थानों पर दस अशोक स्तूप भी अवस्थित थे।

१२. कंगोद-(गंजाम ज़िला) यहां के सभी निवासी देवोपासक थे। इस देश में बौद्ध एवं बौद्ध संघाराम नहीं थे। देवमंदिर एक सौ से अधिक थे।

१३. कलिंग-(उड़ीसा के दक्षिण) यहां बौद्धों की संख्या बहुत ही कम थी। यहां पर यात्री ने केवल दस संघाराम और पांच सौ महायान पंथी भिक्षु देखे थे। अबौद्ध ही अत्याधिक संख्या में थे। इन में भी निर्ग्रंथों की संख्या ही सब से अधिक थी। देवमंदिर एक सौ की संख्या में थे।

धर्म संप्रदायों के इस संक्षिप्त विवरण से स्पष्टतया ज्ञात होता है कि ईसा की सातवीं शताब्दी के प्रथम भाग में पूर्व भारतवर्ष (तथा बंगाल) में पौराणिक हिन्दू, बौद्ध और जैन तीनों संप्रदायों का

एक समान प्रचार था। उस समय बंगाल प्रांत या बंगदेश में बौद्धधर्म की केवल दो शाखाएं अर्थात् हीनयान एवं महायान विद्यमान थीं। यह बात चीनी यात्री के विवरण से स्पष्ट ज्ञात होती है। किन्तु ऐसा अनुमान होता है कि उस समय बंगाल देश में बौद्धधर्म धीरे-धीरे क्षीण अवस्था को प्राप्त होता जा रहा था। क्योंकि ह्यू सांग ने स्वयं ही लिखा है कि किसी किसी स्थान पर (यथा वैशाली और चम्पा में) बौद्ध संघाराम अधिकांश ध्वंस दशा प्राप्त कर चुके थे। ह्यू सांग के पूर्ववर्त्ती चीनी यात्री फाहियान ने ताम्रलिप्ति नगरी में दो वर्ष तक (ई० स० ४०६ से ४११) वास किया था। उस ने लिखा है कि उस समय ताम्रलिप्ति नगर में बौद्ध धर्म का यथेष्ठ प्रभाव था। एवं उस नगरी में बौद्ध संघाराम बाईस की संख्या में थे। परन्तु ह्यू सांग के समय में मात्र दस संघारामों की ही संख्या थी। अतएव यह बात स्पष्ट है कि दो सौ तीस वर्षों (ई० स० ४०६ से ६३६) के अन्दर ताम्रलिप्ति में बौद्धधर्म की बहुत कुछ अवनति हो चुकी थी। ह्यू सांग के विवरण से एक बात और ध्यान देने योग्य है कि ईसा की सातवीं शताब्दी में कामरूप कंगोद तथा कलिंग इन तीन प्रदेशों में बौद्धधर्म का विशेष प्रचार न हो पाया था। पूर्व-भारतवर्ष में ब्राह्मणधर्म, बौद्धधर्म तथा जैनधर्म में परस्पर बहुत शताब्दियों तक प्रबल प्रतियोगिता (संघर्ष) चलती रही थी। इसी कारणवश उक्त तीनों प्रदेशों में बौद्धधर्म प्रधान स्थान प्राप्त नहीं कर सका था। एवं इस प्रतियोगिता के फलस्वरूप ताम्रलिप्ति में फाहियान के समय से लेकर ह्यू सांग के समय तक प्रायः अढ़ाई सौ वर्षों के अन्दर बौद्ध संप्रदाय इतना दुर्बल हो गया था।

ह्यू सांग के विवरण से जाना जाता है कि ईसा की सातवीं शताब्दी में पूर्व-भारतवर्ष में जैनधर्म यथेष्ठ प्रबल था। उक्त चीनी यात्री बौद्ध था, इस लिये उस ने बौद्धधर्म का ही विस्तृत विवरण दिया है। जैन व ब्राह्मणधर्म सम्बन्धी संक्षिप्त विवरण दे कर ही कार्य निपटाया है तथापि देखा जाता है कि वैशाली, पौंड्रवर्धन, समतट एवं कलिंग इन चार प्रदेशों में जैन संप्रदाय की संख्या ही सब से अधिक थी। मगध में भी बहुत जैन थे। इस के अतिरिक्त (बंगाल के) अन्यान्य प्रदेशों में यथेष्ठ संख्या में जैन नहीं थे ऐसा मानना यथार्थ मालूम नहीं होता॥। इन सब प्रदेशों में (उपरोक्त चार प्रदेशों की अपेक्षा) जैनों की संख्या कम होने के कारण ह्यू सांग मौन रहा हो ऐसा ज्ञात होता है।

ब्राह्मणधर्म संप्रदायों के सम्बन्ध में भी वह मौन सा ही है, क्योंकि किस प्रदेश में कितने देवमन्दिर थे इतना ही केवल उल्लेख किया है। किस संप्रदाय की कितनी जनसंख्या एवं किस

॥यद्यपि चीनी यात्री ने निग्रंथों का अन्य स्थानों पर विशेषतया वर्णन नहीं किया, तथापि जहां कहीं वह यह उल्लेख करता है कि बौद्धधर्म के साथ साथ अन्य धर्म भी प्रचलित थे, वहां समझना चाहिये कि जैन-संप्रदाय भी उनमें से एक था। उसकी चुप्पी का यह अर्थ नहीं लगाना चाहिये कि पूर्वी भारत तथा बंगाल के दूसरे भागों में जैन न थे। जैसे कि राजगृह के वर्णन में ह्यू सांग ने जैनों का कोई वर्णन नहीं किया परन्तु उस ने विपुल पर्वत की चोटी पर एक स्तूप के समीप कई निग्रंथों को देखा था। राजगृह जैनों का बहुत बड़ा तीर्थ स्थान है तथा बहुत परिमाण में जैन तीर्थंकरों की मूर्तियां इस स्थान पर आसपास बिखरी हुई मिलती हैं वैभार गिरिपर अनेक जैन तीर्थंकरों की मूर्तियां सुरक्षित हैं। तथा जैसे राजगृह बौद्ध साहित्य सद्ध है वैसे ही जैन साहित्य में भी प्रसिद्ध है। (अनुवादक)

संप्रदाय के कितने मंदिर थे, इस विषय में वह सर्वथा मौन है। तथापि उस समय बंगालदेश में ब्राह्मणधर्म के कौन कौन से संप्रदाय विद्यमान थे, इस विषय की थोड़ी बहुत सामग्री तो अवश्य ही हमारे पास है। इस लेख में इस विषय पर विस्तृत आलोचना करने को हमारे पास स्थान नहीं है। तथापि संक्षेप से दो चार प्रमाण दे कर ही बस करेंगे। हम जानते हैं कि कर्णसुवर्ण का अधिपति शशांक शैव धर्मानुयायी था, तथा उस का परमशत्रु एवं कर्णसुवर्ण विजेता कामरूप राजा भास्कर वर्म्मन भी शिवोपासक था। किन्तु कर्णसुवर्णपति जयनाग परम भागवत अर्थात् वैष्णव था (E.P. Ind. XVIII. P. 63) बंगाल में जिन गुप्त सम्राटों ने राज्य किया है वे वैष्णव थे। उन के शासनकाल में ब्राह्मण धर्म का बंगाल में खूब प्रचार हुआ था। इस बात की सत्यता का यथेष्ठ प्रमाण उस समय के ताम्रपत्र आदि ऐतिहासिक सामग्री है। उन लोगों के शासन काल में बंगालदेश में बहुत देवमन्दिर प्रतिष्ठित हुए थे। इस बात की पुष्टि के लिये अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। दामोदरपुर से प्राप्त ताम्रपत्रों (चौथे और पांचवें) से जाना जाता है कि सम्राट बुद्धगुप्त (ई० स० ४७७, से ४९६) एवं तृतीय कुमारगुप्त (ई० सं० ५४३) के राज्यकाल में पौंड्रवर्धन-भुक्ति में कोकामुख स्वामी के लिये एक तथा श्वेतवराह स्वामी के लिये दो मन्दिर निर्माण किए गये थे। शुशुनिया पर्वत लिपि (E.P. Ind. XIII 133) से ज्ञात होता है कि ईसा की चतुर्थ शताब्दी में पुष्करणा (बांकुड़ा ज़िला अन्तर्गत वर्त्तमान पोखरण नामक ग्राम) का अधिपति चन्द्रवर्म्मन चक्रस्वामी (अर्थात विष्णु) का उपासक था।

गुप्तयुग में (ई० स० ३१६ से ५५०) बंगाल देश में ब्राह्मणधर्म की अवस्था कैसी थी। अर्थात् किस किस देवता के लिये मंदिर-निर्माण और उपासना होती थी; इस विषय की संक्षिप्त आलोचना की है। फ़ाहियान के विवरण से यही अनुमान होता है कि उस समय इस देश में बौद्धधर्म भी यथेष्ठ प्रबल था तथा संभवतः सातवीं शताब्दी की अपेक्षा प्रबलतर ही था। दुःख का विषय है कि फाहियान ने (ई० स० ४०५ से ४११) बंगालदेश के धर्म संप्रदायों के विषय में विस्तृत उल्लेख नहीं किया। उस ने मात्र चम्पा (भागलपुर) और ताम्रलिप्ति का सामान्य विवरण ही लिखा है (Legge. P. 100)।

गुप्तयुग में बंगालदेश में जैन संप्रदाय की अवस्था कैसी थी। इस विषय का कोई विशेष विवरण नहीं पाया जाता। किन्तु उस समय भी निश्चय ही बंगाल में जैनधर्म का खूब अधिक प्रभाव था। नहीं तो ह्यूसांग के समय बंगाल में जैन धर्म का इतना प्रभाव होना संभव न था। पहाड़पुर में (राजशाही ज़िले से) प्राप्त हुए ताम्रपत्र से मालूम होता है कि ई० स० ४७६ में नाथशर्मा एवं रामी नामक ब्राह्मण दम्पती ने पौंड्रवर्धन (बगुड़ा ज़िलांतर्गत वर्त्तमान महास्थानगढ़) निकटवर्ती "बटगोहाली" (आधुनिक गोमालभिटा पहाड़पुर के समीप) नामक स्थान में जैन विहार की पूजा अर्चनार्थ सहायता करने के उद्देश से कुछ भूमि दान दी थी। उस समय उस विहार में श्रमणाचार्य निर्ग्रंथ गुहनन्दी के शिष्य प्रशिष्य मौजूद थे (E.P. Ind. XX. P. P. 61. 63)। इस से ज्ञात होता है कि गुप्तयुग में बंगाल

देश में जैनधर्म मात्र सुप्रतिष्ठित ही नहीं था किन्तु धनवान ब्राह्मण भी जैनधर्म और जैनाचार्यों के प्रति अनुराग प्रगट करते थे एवं आवश्यक्ता के लिए भूमिदान कर सहायता करते थे। इस का विशेष उल्लेख करने का प्रयोजन यह है कि बटगोहाली का यही जैन विहार ईसा की पांचवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में पौंड्रवर्धन नगर के समीप अवस्थित था तथा सातवीं शताब्दी के प्रथम चरण में भी ह्यू्सांग ने पौंड्रवर्धन प्रदेश में बहुत निर्ग्रंथ देखे थे।

संभवतः ईसा पूर्व ३०० वर्ष में पाटलीपुत्र नगर में जैन संप्रदाय की एक सभा निमंत्रित की गयी थी, एवं इस सभा में जैनों के धर्मशास्त्र समूह को भलीभांति वर्गीकरण तथा सुरक्षित किया गया और उस के उत्तरकाल में इन शास्त्रों के लुप्त होने का प्रसंग आने पर भी ये लुप्त होने से बचा लिये गये क्योंकि गुप्त सम्राट के अभ्युदय के चरम समय ई० स० ४५४ गुजरात के अन्तर्गत वल्लभी नगरी में एक और सभा निमंत्रित की गयी। जिस में जैनधर्म शास्त्रों को फिर से सुरक्षित व लिपिबद्ध किया गया। यही शास्त्र समूह वर्त्तमान जैनधर्म का इतिहास रचने के लिए इतिहासकारों के लिये प्रधान साधन है। पांचवीं शताब्दी में इस शास्त्रसमूह की कोई नवीन रचना नहीं की गयी थी किन्तु प्राचीन शास्त्र समूह को ही मात्र लिपिबद्ध किया गया था। यही कारण है कि इस शास्त्रसमूह से ही बहुत प्राचीन इतिहास जाना जा सकता है। किन्तु स्थान स्थान पर इन ग्रंथों में उत्तरकालीन प्रभाव भी दीख पड़ता है।

इसी शास्त्र समूह में सब से प्रधान ग्रंथ का नाम कल्पसूत्र है। इसी ग्रंथ में जैनधर्म की भिन्न भिन्न शाखा प्रशाखाओं के नाम जाने जा सकते हैं। उन्हीं शाखाओं में से यहां पर ताम्रलिप्तिका कोटिवर्षिया, पौंड्रवर्धनिया एवं (दासी) कर्व्वटिका-खर्व्वटिका विशेषतया उल्लेखनीय ❀ हैं १. ताम्रलिप्ति-मेदिनीपुर जिलांतरगत तमलूक का प्राचीन नाम है। २. प्राचीन कोटिवर्ष नगर दिनाजपुर जिले में अवस्थित था। ३. पौंड्रवर्धन नगर बगुड़ा जिला अन्तर्गत महास्थानगढ़ नामक स्थान पर अवस्थित था। ऐसी विद्वानों की धारणा है। ४. कर्व्वट नगर का उल्लेख महाभारत में भीम की दिग्विजय के प्रसंग पर मिलता है। वराहमिहर के "वृहतसंहिता" नामक ग्रन्थ में भी कर्व्वट जनपद का उल्लेख है। यह जनपद "राढ़" अर्थात् पश्चिम बंगाल में तम्रलिप्ति के समीप ही अवस्थित था। ताम्रलिप्ति, कर्व्वट, कोटिवर्ष एवं पौंड्रवर्धन ये चारों स्थान गुप्तयुग में विशेष प्रसिद्ध थे। इस की पुष्टि के लिये प्रचुर प्रमाण उपलब्ध हैं। पूर्वोक्त जैन "कल्पसूत्र ग्रंथ" ई० स० ४५४ में सम्राट कुमारगुप्त के शासन काल में (ई० स० ४१५ से ४५५) लिपिबद्ध हुआ था। इस लिए ऐसा अनुमान करना अनुचित नहीं है कि गुप्त सम्राट के शासन काल में बंगालदेश में ताम्रलिप्ति, कोटिवर्ष आदि चारों

❀थेरेहिंतो गोदासेहितो कासवगुत्तेहिंतो इत्थणं गोदासगणे नामं गणे निग्गए तस्सणं इमाओ चत्तारी साहाओ एवमाहिज्जंति ते जहा तामलित्तिया कोडीवरिसिआ, पौंडवद्धनिया, दासी खब्बडिया। (कल्पसूत्र स्थविरावली) (अनुवादक)

स्थानों में जैनधर्म विशेष प्रबल था। पूर्वोक्त पहाड़पुर के ताम्रपत्र से वटगोहाली नामक स्थान में अवस्थित जिस जैन विहार का पता मिला है वह पौंड्रवर्धन नगर से अधिक दूर नहीं था। अतएव इस बात को माना जा सकता है कि बटगोहाली विहार के निर्ग्रंथ जैन पौंड्रवर्धनिया शाखा के अनुयायी थे। एवं इस समय से कुछ उत्तरवर्ती काल में ह्यूसांग ने पौंड्र-वर्धन में जिन समस्त निर्ग्रंथों को देखा था, वे भी इसी शाखा के अनुयायी थे। फाहियान एवं ह्यूसांग दोनों ने ही ताम्रलिप्त नगर में निवास किया था और उन में से किसी ने भी जैन संप्रदाय के सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा। किन्तु आप को ज्ञात हो गया है कि ताम्रलिप्ति जैनों का एक बड़ा केन्द्र था। इसी लिये हम पहले कह आये हैं कि ह्यूसांग की मौनता से कोई सिद्धांत निश्चित करना उचित नहीं है। एवं जिन सब स्थानों का वर्णन करते समय उस ने जैनों के सम्बन्ध में कुछ भी उल्लेख नहीं किया उन सब स्थानों में भी थोड़े बहुत जैन अवश्य ही थे ऐसा माना जा सकता है।

हम देखते हैं कि गुप्तयुग में बंगालदेश में जैन, बौद्ध, वैष्णव तथा शैव ये चारों धर्म संप्रदाय ही अधिक प्रतिष्ठा सहित विद्यमान थे। यहां पर एक प्रश्न उपस्थित होता है कि ये धर्म-संप्रदाय किस प्रकार और किस समय बंगालदेश में विस्तार पाये, और किस धर्म ने सर्व प्रथम इस देश में प्रधानता प्राप्त की? दुःख का विषय है कि बंगाल देश का गुप्तयुग से पहले का इतिहास

बड़े ही अन्धकार में है। इस समय जो कुछ भी इतिहास तैयार करने की सामग्री हमारे सामने मौजूद है यदि इधर उधर से संग्रह करके उस समय के इतिहास की रचना की जावे तो भी धर्म सम्बन्धी इतिहास की सामग्री का तो हमारे पास अभाव सा ही है। इस लिये गुप्तकाल के पूर्ववर्ती कई शताब्दियों का धर्म विषयक इतिहास रचने का प्रयास करना कठिन अवश्य है। तथापि उस समय पूर्वोक्त धर्म संप्रदाय बंगाल में अविराम प्रचार पा रहे थे इस विषय में किंचितमात्र भी संदेह नहीं है।

वैष्णव धर्म का प्राचीन नाम भागवत धर्म था। इस धर्म की उत्पत्ति अति प्राचीन काल में हुई थी। ईसा से पूर्व चौथी शताब्दी में ग्रीक दूत मेघास्थनिस ने मथुरा के प्रदेश में इसी धर्म का विशेष प्रभाव पाया था। ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दी में तक्षशिला के ग्रीक राजा (Antialcidas) पंचम शुगराज ने भागभद्र की विदिशा स्थित राज सभा में हेल्युडोरास नामक दूत को भेजा था। इसी यवन (अर्थात् ग्रीक) दूत ने भागवत धर्म ग्रहण किया था। इस परम भागवत यवन हेल्युडोरास के प्रसंग से उत्तरवर्ती काल में परम वैष्णव यवन हरिदास की कथा भी स्वतः स्मरण हो जाती है। हम पहले लिख चुके हैं कि मगध के गुप्तसम्राट सभी भागवत धर्मानुयायी थे। ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी से ईसा की चतुर्थ शताब्दी तक पुष्करणाधिपति चन्द्रवर्म्मन चक्रस्वामी का उपासक था। बंगाल में भागवत अथवा वैष्णव धर्म का यही प्रथम प्रमाण है।

हम पहले कह आये हैं कि ईसा की पांचवीं शताब्दी में उत्तरबंगाल में कोकामुख देवता के लिये एक मंदिर निर्माण किया गया था। यह कोकामुख संभवतः शिव का एक रूप ही था यदि ऐसा ही हो तो इसी को बंगाल में शिवधर्म का प्रथम ऐतिहासिक प्रमाण समझ कर ग्रहण करना चाहिए। इस से उत्तर काल में कर्णसुवर्ण के राजा शशांक एवं कर्णसुवर्ण विजेता भास्करवर्म्मन ये दोनों ही शैव थे। वर्त्तमान में यह कहना कठिन है कि बंगालदेश में शैवधर्म ने अपना प्रभाव कैसे फैलाया था। यह धर्म भारतवर्ष का एक प्राचीन धर्म है। सिंधु देशान्तरगत मोहनजोदड़ो नामक स्थान से शिवलिंग, शिवमूर्ति आदि ऐतिहासिक युग से भी पहले के अनेक शैवधर्म के प्रमाण पाये गये हैं। ऋगवेद के देवता रुद्र को कई लोग शिव ही स्वीकार करते हैं। किसी किसी विद्वान का यह मत है कि बंगाल के प्राचीनतम अधिवासी अंग, बंग पौंड्र आदि tribe के जन समाज में तांत्रिक लिंगपूजा प्रचलित थी। इसी लिंग पूजा के साथ प्रागैतिहासिक शैवधर्म का योग होना कोई विचित्र बात नहीं है। यदि ऐसा ही हो तब कहना होगा कि शैवधर्म बंगाल का आदि धर्म था। किन्तु ऐतिहासिक-युग के जिस शैवधर्म का भारतवर्ष में प्रचलन पाया जाता है वह अनेक अंशों में प्राचीन शैवधर्म से स्वतंत्र था। इसी उत्तरवर्त्ती शैवधर्म को नवशैव नाम दिया जा सकता है। इस नव शैवधर्म का सुस्पष्ट प्रमाण ईसा की प्रथम शताब्दी के कुषाण राजा के सिक्के में

पाया जाता है। पातंजल महाभाष्य में शिवोपासना का उल्लेख है। इस उल्लेख के समय से कितना पहिले अथवा कितना बाद में इस धर्म ने बंगाल में प्रवेश किया था इस के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता।

इसी कुषाणयुग में ही महायान एवं हीनयान इन दोनों बौद्ध संप्रदायों की उत्पत्ति हुई थी। हम लोग इस बात को जान चुके हैं कि ह्यूसांग के समय में बंगालदेश में हीनयान और महायान इन दोनों संप्रदायों के हा द.द्ध थे। कुषाण युग में बौद्धों के जिस नवीन संप्रदाय का उत्पत्ति हुई थी उसी का नाम महायान था। इन्हीं महायान बौद्धों ने प्राचीनपंथी बौद्धों को हीनयान नाम दिया। अतएव यह बात मान सकते है कि ह्यूसांग के समय बंगाल में जो हीनयान संप्रदाय था वही बंगाल का प्राचीनतर बौद्ध संप्रदाय था। महायान संप्रदाय ने अवश्य ही कुषाण युग के बाद बंगाल में प्रचार पाया था। किन्तु महाथान बौद्धधर्म ने बंगाल में कैसे प्रवेश किया इस विषय को विशेष रूप से जानने के लिये हमारे पास कोई साधन नहीं है।

गुप्तयुग में बंगालदेश में शैव, वैष्णव आदि पौराणिक धर्मों के सिवाय वैदिक ब्राह्मण धर्म भी प्रचलित था। सम्राट प्रथम कुमारगुप्त के (ई० स० ४१५ से ४५५) समय के दो ताम्रपत्रों द्वारा (ई० स० ४४३ और ४४८) हम जान सकते हैं कि उस समय पौंड्रवर्धन-भुक्ति में (अर्थात् उत्तर बंगाल में) ब्राह्मण लोग अग्निहोत्र पंचमहायज्ञ-प्रभृति वैदिक क्रिया कर्म करते थे। इस वैदिक ब्राह्मण धर्म ने बंगाल में किस समय प्रवेश किया इस विषय की अलोचना करने की आवश्यक्ता है।

हम भागवत, शैव आदि पौराणिक धर्मों की संक्षिप्त आलोचना कर चुके हैं। अब आगे चलें। ईसा की पूर्ववर्त्ती कई शताब्दियों से ही बंगाल में जैन, बौद्ध और वैदिक धर्म भी प्रचलित थे। ऐसी मान्यता की पुष्टि के लिये कई कारण उपलब्ध हैं। ईसा पूर्व प्रथम (दूसरे मतानुसार द्वितीय) शताब्दी में कलिंगाधिपति खारवेल ने उत्तर एवं दक्षिण भारत में एक विस्तृत साम्राज्य स्थापित किया था। उस की हाथीगुफा लिपि [शिलालेख] से ज्ञात होता है कि वह जैनधर्मावलम्बी था एवं जैनधर्म की उन्नति के लिये वह विशेष प्रयत्नशील था। अपने राज्य के तेरहवें वर्ष में उस ने कलिंग नगर में जैन संप्रदाय की एक सभा निमंत्रित की थी तथा इस सभा में जैनशास्त्र समूह की अलोचना की गयी थी। इसी वर्ष उस ने जैन मुनियों को श्वेतवस्त्र भेंट किये थे। इस से एक वर्ष पहले नन्दराजा द्वारा कलिंग से ले जायी गयी हुई एक **जैनमूर्ति** को यह मगध से पुनरोद्धार कर वापिस कलिंग में लाया था। इन सब प्रमाणों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उस समय कलिंग राज्य जैनधर्म का एक प्रधान-केन्द्र था। अतएव जिस समय कलिंग में जैनधर्म का इतना प्राधान्य था उस समय बंगालदेश में भी जैनधर्म का बहुत प्रभाव था ऐसा स्वीकार करना अनुचित न होगा। यहां इस बात को भी ध्यान में रखना होगा कि ह्यूसांग ने भी कलिंगदेश में जैन-संप्रदाय का ही प्रभाव सब से अधिक देखा था। ऐसा उल्लेख किया है। तथा उस समय बंगालदेश के नाना स्थानों में भी जैनों का प्रभाव खूब ही अधिक था। उपर्युक्त हाथीगुफा के लेख से यह बात भी जानी जाती

है कि सम्राट खारवेल के शासनकाल में कलिंग में ब्राह्मणों का अभाव नहीं था तथा सम्राट स्वयं जैनधर्मानुयायी होते हुए भी उस ने ब्राह्मणों के प्रति यथेष्ट दाक्षिण्यता बतलाई थी। हाथीगुफा के लेख में बौद्धों का कुछ भी उल्लेख नहीं है।

ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में प्रायः समस्त भारतवर्ष में मौर्य सम्राट अशोक का (ई० पू० २७२ से २३२) साम्राज्य था। उसने अपने शासन के तेरहवें वर्ष (ई० पू० २६०) कलिंग राज्य को विजय किया था (Rock Edict XIII)। बंगालदेश अशोक के राज्याधिकार में था या नहीं, इस का कोई भी प्रत्यक्ष प्रमाण अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ। किन्तु बंगालदेश उसके राज्याधिकार में था ऐसा अनुमान करने के लिये यथेष्ठ परोक्ष प्रमाण हैं। प्रथम अशोक ने स्वयं ही दो आदेशों में (R. E. II, XIII) अपने साम्राज्य के बाहर समीपवर्ती (संलग्न) राज्यों का उल्लेख किया है। उन समीपवर्ती राज्यों में चोल, पांड्य, सत्यपुत्र, केरलपुत्र एवं ताम्रपर्णी (अर्थात् सिंहल) ये पांच देश ही दक्षिण भारत में अवस्थित थे। अन्यान्य समीपवर्ती राज्यों में कोई भी राज्य भारतवर्ष में नहीं था। सभी राज्य भारतवर्ष के बाहर पश्चिम दिशा में अवस्थित थे। ध्यान में रखने की बात है कि दोनों बार में से एक बार भी अशोक ने दूसरे समीपवर्ती राज्यों में पूर्व-भारतवर्ष (तथा बंगाल) के किसी भी जनपद का उल्लेख नहीं किया। अतएव संभवतः अनुमान होता है कि बंगालदेश अशोक के साम्राज्य में ही था। और यह बात भी स्वाभाविक ही है कि मगध के संलग्न प्रांतवर्ती होने से बंगालदेश के लिये विराट शक्तिशाली मौर्य साम्राज्य से आत्मरक्षा करना संभव नहीं था। हम पूर्व लिख आये हैं कि

ईसा की सातवीं शताब्दी में ह्यूसांग ने पौंड्रवर्धन, समतट, कर्ण-सुवर्ण, ताम्रलिप्ति एवं ओड्र इन स्थानों में कई बौद्ध स्तूप देखे थे तथा उस समय यही धारणा प्रचलित थी कि इन्हीं सब स्थानों में बुद्धदेव धर्म प्रचार करने आये थे। इसी लिये बाद में अशोक ने उन स्थानों में स्तूप बनवाये थे। सातवीं शताब्दी की यह प्रचलित धारणा कहां तक सत्य है अर्थात् बुद्धदेव ने पौंड्रवर्धन, समतट, कर्णसुवर्ण इत्यादि स्थानों में धर्मप्रचार किया था या नहीं, एवं ये सब स्तूप वास्तविक में अशोक द्वारा निर्माण किये गये थे या नहीं इस बात का वर्तमान समय में निःसंशय रूपसे निर्णय करना संभव नहीं है। तथापि बंगालदेश में अशोक के शासन तथा स्तूप निर्माण सम्बन्धी सातवीं शताब्दी की प्रचलित धारणा सर्वथा असत्य भी नहीं कही जा सकती। इस का प्रथम कारण यह है कि अशोक ने अपने साम्राज्य के सिवाय दूसरे राज्यों के विवरण में बंगाल के किसी भी जनपद का उल्लेख नहीं किया; दूसरे दिव्यावदान ग्रंथ ने अति स्पष्टतापूर्वक पौंड्रवर्धन नगर को अशोक के राज्य में वर्णन किया है। मात्र इतना ही नहीं; उक्त ग्रंथ में अन्यत्र भी लिखा है कि पूर्व दिशांतरगत "पौंड्रवर्धन" नामक नगर, उस के बाद "पौंड्रकक्ष" नामक पर्वत तत्पश्चात् सीमांत। यह सीमान्त किस का और किस समय का है इस विषय का कुछ भी उल्लेख नहीं है। यद्यपि यह बात बुद्धदेव के मुंह से कहलाई गयी है तो भी अनुमान होता है कि "पौंड्रकक्ष" पर्वत अशोक के साम्राज्य तथा उस समय के बौद्ध प्रभाव का सीमान्त माना जाता होगा। यदि ऐसा ही हो तो अनुमान करना चाहिये कि पौंड्रवर्धन

के पूर्ववर्त्ती-कामरूप अशोक के साम्राज्य से और बौद्ध जगत की सीमा से बाहर था, एवं इसी लिये सातवीं शताब्दी में ह्यूसांग ने कामरूप में बौद्धधर्म का प्रभाव नहीं देखा था। पौंड्रवर्धन अशोक के साम्राज्य में था इसके प्रमाण अशोकावदान प्रभृति अन्यान्य बौद्ध रचनाओं से भी पाये जाते हैं। सिंहल के महावंश नामक बौद्ध ग्रंथ से ज्ञात होता है कि ताम्रलिप्ति भी अशोक के साम्राज्य में थी। अशोकावदान में भी इसके अनुकूल प्रमाण मिलते हैं। इन्हीं सब प्रमाणों से मानना पड़ता है कि बंगाल में अशोक ने राज्य किया था। इस में संदेह नहीं है।

अब विचार यह करना है कि अशोक के शासनकाल में (ई० पू० २७२ से २३२) बंगालदेश में कौन कौन से धर्म प्रचलित थे। इस में संदेह नहीं है कि उस समय बौद्धधर्म प्रचलित था; यह बात इस समय किसी से भी अज्ञात नहीं है कि अशोक ने समस्त भारतवर्ष में एवं भारतवर्ष के बाहर भी बहुत देशों में धर्मप्रचार किया था। अतएव बंगाल में भी इस का प्रचार कार्य चला था। कलिंग युद्ध के समय कलिंगदेश में बहुत ब्राह्मण, श्रमण तथा अन्याय संप्रदाय के लोग निवास करते थे। इन के सिवाय अशोक ने स्वयं ही लिखा है कि "भारतवर्ष में एक मात्र यवन जनपद के सिवाय ऐसा कोई स्थान नहीं कि जहां ब्राह्मण और श्रमण न हों; एवं जहां के निवासी किसी न किसी संप्रदाय के अनुयायी न हों।" अतएव कलिंगदेश के समान बंगाल में भी बहुत ब्राह्मण और श्रमण थे। सिंहल के महावंश और दीपवंश नामक दोनों ग्रंथों से ज्ञात होता है कि अशोक ने पूर्वदिशा में सुवर्णभूमि अर्थात् ब्रह्मदेश में भी धर्म प्रचारक भेजे थे। अतएव उस के समय

में बंगाल देश में सर्वत्र ही बौद्धधर्म ने अवश्य प्रचार पाया था, इस में संशय नहीं है। तथा ह्यूसांग के समय बंगाल के पूर्वतम प्रांत समतट में भी बहुत बौद्ध संघाराम, बौद्ध भिक्षु एवं अशोक स्तूप विद्यमान होना कोई विचित्र बात नहीं है। किन्तु अशोक के प्रचार के फलस्वरूप बंगाल में बौद्धधर्म ने कहां तक प्रसार पाया था यही निश्चय करने का हमारा यहां मुख्य प्रयोजन था। अन्यान्य देशों के समान कलिंग में भी उस ने बौद्धधर्म का प्रचार किया था किन्तु इतना करने पर भी कलिंगदेश में बौद्धधर्म विशेष प्रचार न पा सका था। हम लिख चुके हैं कि जैन सम्राट खारवेल एवं चीनीयात्री ह्यूसांग के समय में भी कलिंग में जैनधर्म ही प्रधान था। सातवीं शताब्दी में वहां पर बौद्धों की संख्या खूब ही कम थी। हम देखेंगे कि अशोक के पूर्ववर्ती युग में भी कलिंग में जैनधर्म का ही प्रभाव अधिक था। कलिंग के समान बंगाल में भी अशोक द्वारा बौद्धधर्म का प्रचार होने पर भी बौद्धधर्म अधिक प्रसार न पा सका था। ह्यूसांग के समय बंगाल के पूर्वतम प्रांत में अर्थात् समतट में बहुत बौद्ध थे किन्तु जैनों की संख्या ही सब से अधिक थी। समतट के समान पौंड्रवर्धन में भी जैनों की संख्या ही सब से अधिक थी। हम पहले लिख चुके हैं कि गुप्तयुग में बंगाल में जैनों का प्रभाव खूब ही अधिक था एवं पौंड्रवर्धन, कोटिवर्ष, ताम्रलिप्ति तथा कर्बट भी जैनों के ही प्रधान केन्द्र थे।

आनन्द का विषय है कि अशोक के समय में भी पौंड्रवर्धन में जैनों का ही विशेष प्रभाव था; इस के अनेक प्रमाण

उपलब्ध हैं। दिव्याविदान, अशोकावदान, सुमागधावदान प्रभृति बौद्ध साहित्य से ज्ञात होता है कि अशोक के शासनकाल में पौंड्रवर्धन में निर्ग्रंथों की ही अधिकता थी, एवं निर्ग्रंथ और सद्धर्मी (अर्थात् बौद्ध) संप्रदाय में प्रबल प्रतियोगिता (संघर्ष) चलती थी। हम आगे देखेंगे कि पौंड्रवर्धन प्रभृति स्थानों पर जैनधर्म का प्रसार अशोक से बहुत पूर्व ही प्रारंभ हुआ था।

यहां पर विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि अशोक के शासनकाल में पौंड्रवर्धन में मात्र जैन और बौद्धधर्म ही प्रचलित नहीं थे किन्तु गोशाल मंखलीपुत्र द्वारा (ई० पू० छठी शताब्दी) चलाया हुआ आजीवकधर्म भी प्रचलित था। मात्र इतना ही नहीं किन्तु दिव्यावदान की एक कथा से ज्ञात होता है कि उस समय पौंड्रवर्धन में अठारह हज़ार से भी अधिक आजीवक थे। अशोक के शासनकाल में भारतवर्ष में आजीवकधर्म की प्रतिष्ठा के विषय में अन्य स्वतंत्र प्रमाण भी उपलब्ध हैं। एक आदेशपत्र (Piller Edict VII) में अशोक ने लिखा है कि उस ने बौद्ध, जैन, आजीवक आदि सकल संप्रदायों के उपकारार्थ धर्माचारियों को नियुक्त किया है। इस के सिवाय हमें और भी ज्ञात होता है कि अशोक ने खलतिक (गया ज़िलांतर्गत "बराबर") नामक पर्वत में आजीवकों के लिये तीन गुफाएं निर्माण की थीं। अशोक के पौत्र दशरथ ने भी खलतिक पर्वत के निकट ही नागार्जुन नामक पर्वत में आजीवकों के लिये और भी तीन गुफाएं निर्माण करवाई थीं। अतएव इस में संदेह नहीं है कि ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में

मगध में आजीवक संप्रदाय का यथेष्ठ प्रभाव था । तथा उस समय पौंड्रवर्धन प्रभृति बंगालदेश के विभिन्न स्थानों में भी उन का सद्भाव होना कोई विचित्र बात नहीं है। बंगाल में आजीवकधर्म ने कब प्रवेश किया एवं इस संप्रदाय की विशेषता क्या थी इस विषय की यथास्थान आलोचना करेंगे ; यहां पर तो मात्र इतना ही लिखने का प्रयोजन है । यह बात निश्चित रूप से ज्ञात नहीं होती कि उत्तरवर्ती काल में आजीवकधर्म कैसे और कब भारतवर्ष और बंगाल से लुप्त हुआ, तथापि आजीवक संप्रदाय धीरे धीरे जैनसंप्रदाय में मिल गया होगा ऐसा अनुमान करने के लिए कुछ प्रमाण उपलब्ध है ।

ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी में मौर्य राज्यवंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त के शासनकाल में (ई० पू. ३२२ से २६८) भारतवर्ष में बौद्धधर्म से जैनधर्म की प्रवलता अधिकतर थी ऐसा स्वीकार करना पड़ता है । एवं चन्द्रगुप्त स्वयं भी संभवत: जैन धर्मावलम्बी था। उस के शासनकाल में जैनधर्म ने दक्षिण भारत अंतर्गत सुदूर कर्णाटकदेश पर्यंत विस्तार प्राप्त किया था । यदि जैनसाहित्य देखा जाय तो चन्द्रगुप्त चौबीस वर्ष शासन करने के बाद सिंहासन त्याग कर कर्णाटक में चला गया था एवं वहां पर वर्त्तमान मैसूर के अन्तर्गत "श्रवणबेलगोला नामक स्थान में जैन भिक्षु रूप में उस की मृत्यु हुई थी । इस जैन प्रवाद को ऐतिहासिक लोग स्वीकार नहीं करते । जो हो, यह बात सहज में ही अनुमान की जा सकती है कि जिस समय जैनधर्म सुदूर कर्णाटक पर्यंत विस्तृत था एवं चन्द्रगुप्त के

समान एकछत्र सम्राट की पृष्ठपोषकता को प्राप्त किये हुए था उस समय इस धर्म ने मगध के समीपवर्ती बंगालदेश में भी प्रधानता लाभ की थी। हम पूर्व में लिख आये हैं कि ताम्रलिप्ति, कोटिवर्ष, पौंड्रवर्धन और कर्व्वट इन चार स्थानों के नाम से जैन मुनियों की चार शाखाएं थीं। इस लिये इन सब स्थानों में जैनधर्म का प्राधान्य अशोक के पूर्व ही प्रतिष्ठित हो चुका हुआ था ऐसा स्वीकार करना अनुचित न होगा। क्योंकि हम यह भी जान चुके हैं कि अशोक के शासन काल में भी पौंड्रवर्धन में जैन (एवं आजीवक) धर्म का यथेष्ठ प्रभाव था तथा ईसा की सातवी शताब्दी में ह्यूसांग के समय में भी पौंड्रवर्धन में जैन संप्रदाय बौद्ध संप्रदाय से प्रबलतर था; अतएव यह कहना होगा कि अशोक के समय बौद्धधर्म के विशेष रूप से प्रचारित होने के पहले से ही चन्द्रगुप्त के समय बङ्गालदेश में जैनधर्म ने विशेष रूप से प्रतिष्ठा प्राप्त की थी।

मौर्यवंश का पूर्ववर्त्ती मगध का नन्द राजवंश भी जैनधर्म के प्रति विशेष अनुरक्त था (Oxford History smith p. 75) हमें कलिंगराज खारवेल के हाथीगुफा की लिपि (शिलालेख) से ज्ञात होता है कि नन्दवंशीय कोई राजा कलिंग से एक जिन-मूर्ति मगध में ले आया था। इतिहासज्ञों की धारणा है कि यही नन्द राजा पुराण के "सर्वक्षत्रांतक" "एकराट" महापद्म नन्द के सिवाय अन्य कोई नहीं था। महापद्म नन्द ही ने संभवतः कलिंग जय किया था; जो हो। हाथीगुफा लिपि के इस विवरण से यही सिद्धान्त निश्चय किया जा सकता है कि ईसा के पूर्व चौथी

शताब्दी में मगध का नन्द राजवंश जैन धर्मानुयायी था। तथा उस समय जैनधर्म ने वैशाली और मगध से सुदूर कलिंग पर्यंत विस्तार प्राप्त किया था। अतएव ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि उस समय बंगालदेश भी जैनधर्म के प्रभाव से बाहिर नहीं था। इस के बाद हम इस बात को भी सिद्ध करेंगे कि हमारा यह अनुमान निरर्थक नहीं है।

नन्दवंश के पूर्व मगध का हर्यांक राजवंश भी जैनधर्म का विशेष अनुरागी था। इसी वंश का सुविख्यात राजा बिम्बसार (श्रेणिक) एवं तत्पुत्र अजातशत्रु (कूनिक) जैनधर्म के अंतिम तीर्थंकर वैशाली के वर्धमान (महावीर) के साथ वैवाहिक❀ सूत्र में आबद्ध थे। (Camb Hist, P 157) बिम्बसार तथा अजातशत्रु (ई० पू छठी शताब्दी) भारतवर्ष के इतिहास में विशेष विख्यात हैं। क्योंकि इन्हों के शासनकाल में मगध के वैशाली साम्राज्य की नीव पड़ी थी। एवं इन के राज्यकाल में बौद्ध, जैन तथा आजीवक ये तीनों ही प्रधान संप्रदाय भारत वर्ष में संघर्ष पूर्वक प्रचार पा रहे थे। क्योंकि बौद्धधर्म के प्रवर्तक गौतमबुद्ध ई० पू० छठी शताब्दी; जैनधर्म के अन्तिम तीर्थंकर वर्धमान-महावीर (जन्म ई०पू० ५६६ कैवल्य ५५७ निर्वाण-मृत्यु ५२७) एवं आजीवकधर्म के प्रवर्तक गोसाल मंखलीपुत्र (कैवल्य ई० पू० ५५६) ने इन्हीं लोगों के शासनकाल में ही अपने अपने धर्मों का प्रचार

❀ भगवान वर्धमान की माता त्रिशला तथा श्रेणिक की रानी चेलना आपस में सगी बहिनें थी एवं राजा चेटक की दोनों पुत्रियां थीं। (अनुवादक)

किया था। विम्बसार एवं अजातशत्रु; बुद्ध तथा महावीर दोनों के प्रति श्रद्धावान थे तथा इन दोनों द्वारा प्रचारित धर्म के प्रति इनका अनुराग था। परन्तु अजातशत्रु संभवतः बाद में जैनधर्म के प्रति ही अति आकृष्ट हो गया था। (camb. Hist. p. p. 160-161 & 163)। अजातशत्रु का पुत्र उदय अथवा उदायी भी ई० पू० ४५६ से ४५३) संभतः जैनधर्मावलम्बी ही था (camb. Hist, P. 164)। अजातशत्रु एवं उदायी के समय से ही जैनधर्म बौद्धधर्म से प्रबलतर हो कर चन्द्रगुप्त मौर्य के समय तक प्रायः समग्र भारतवर्ष में जैनधर्म का प्रभाव ही अधिक था ऐसा ज्ञात होता है। तथा ऐसा भी अनुमानित होता है कि इसी समय ही जैनधर्म बंगालदेश में अपनी प्रधानता स्थापन करने में समर्थ हुआ था। आनन्द का विषय है कि इस अनुमान के अनुकूल यथेष्ठ प्रमाण भी उपलब्ध हैं। यहां इस विषय पर संक्षेप रूप से कुछ अलोचना करने की आवश्यक्ता प्रतीत होती है।

बुद्ध देव ने स्वयं अथवा उनके शिष्य प्रशिष्यों ने बंगालदेश में कभी भी विशेषरूप धर्म प्रचार किया हो इस विषय का निःसंशय (शंका रहित) कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं है। वस्तुतः सब प्राचीन बौद्ध साहित्य में बंगालदेश के सम्बन्ध में किसी विषय पर भी कोई उल्लेख नहीं मिलता। बंगालदेश के लिये प्राचीन बौद्ध साहित्य की ऐसी नीरवता (चुप्पी) इतिहासज्ञों के निकट अवश्य विस्मय का कारण हो जाता है। बंगालदेश के सम्बन्ध में प्राचीन बौद्ध साहित्य में जो दो एक उल्लेख पाये जाते हैं उन की किंचित आलोचना

करना आवश्यक प्रतीत होता है। बौद्ध संयुक्तनिकाय के तीन स्थानों में वर्णन है कि एक समय भगवान् बुद्ध 'सुम्भ' (अर्थात् सुम्ह) के सेदक अथवा सेतक नामक निगम (अर्थात् नगर) में विहार करते थे। "तेलपत्त" जातक में लिखा है कि "सुम्भरट्ठे" अर्थात् सुम्हराष्ट्र में देसक नामक निगम के निकटवर्ती किसी वण में वास करते समय भगवान् बुद्ध ने जनपद कल्याणी सुत्त के सम्बन्ध में अपने शिष्यों के निकट एक कथा कही थी। सेदक अथवा देसक संभवतः एक ही होंगे। इन दोनों कथाओं से यह धारणा होती है कि किसी समय सुम्ह देश अर्थात् दक्षिण राढ़ में धर्म प्रचार करने के लिये बुद्धदेव आये थे। खेद का विषय है कि बंगालदेश में बुद्धदेव के धर्म प्रचार करने का और कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं है। बौद्ध पाली साहित्य में बंगीश एवं उपसेन बंगन्तपुत्त इन दो बौद्ध भिक्षुओं का नाम पाया जाता है। बुद्धघोष की मनोरथपूरणी नामक टीका में बंगन्तपुत्त शब्द का अर्थ किया हुआ है कि "बंगन्त ब्राह्मण का पुत्र"। किन्तु बंगन्त ब्राह्मण से क्या समझना चाहिये सो कुछ समझ में नहीं आता। अतएव बंगीश तथा बंगन्तपुत्त के साथ बंगालदेश का कुछ संपर्क था या नहीं, इस के लिये कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। मात्र अंगुत्तरनिकाय में ही सुविख्यात सोलह जनपदों की तालिका में बंग देश का नाम पाया जाता है। परन्तु अन्य बौद्ध ❀ साहित्य में सर्वत्र ही सोलह जनपदों की तालिका में बंग के

❀अंग, मगध, कोसी, कोसल, वज्जि, मल्ल, चेति, वंस, कुरु, पंचाल मच्छ, सूरसेन, असमक, अवन्ति, गंधार, कम्बोज।
(अंगुत्तरनिकाय १ पृ० २१३) (अनुवादक)

बदले बंस अर्थात् वत्स जनपद का नाम देखा जाता है। इस से धारणा होती है कि अंगुत्तरनिकाय की तालिका में भूल से बंस के बदले बंग लिखा गया होगा। किन्तु बौद्धधर्म के आविर्भाव के समय अवश्य ही बंग जनपद विद्यमान था। ऐसा होते हुए भी प्राचीन बौद्ध पाली साहित्य में बंगालदेश सम्बन्धी और कोई भी उल्लेख नहीं है। अतएव प्राचीन बौद्ध साहित्य की बंग जनपद सम्बन्धी नीरवता (चुप्पी) से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि बौद्धधर्म उस समय तक बंगाल में प्रचार नहीं पा सका, तथा बौद्धधर्म के अविर्भाव के बाद प्रथम दो एक शताब्दी तक यह धर्म बंगालदेश में विस्तार न पा सका होगा।

परन्तु जैन साहित्य में बंगालदेश ने खूब गौरव का स्थान प्राप्त किया था। "भगवती" नामक पंचम जैन अंग में जिन सोलह जनपदों का नाम दिया हुआ है उन में अंग और बंग✻ के नाम ही सब से पहिले उल्लेख किये हुए है। मात्र इतना ही नहीं परन्तु मगध से भी पूर्व इनका नाम दिया है। इस तालिका में राढ़ अर्थात् पश्चिम बंगाल का नाम भी है। इस के बाद प्रज्ञापणा नामक चतुर्थ जैन उपांग में भारतवर्ष के आर्य अधिवासियों को नव भागों में विभक्त किया हुआ है। इन में प्रथम भाग में क्षेत्रिय आर्य ही उल्लिखित है। इस प्रथम भाग में ही अंग, (राजधानी चम्पा) बंग (राजधानी

✻अंग, बंग, मगह, मलय, मालवय, अच्छ, वच्छ, कोच्छ, पाढ, लाढ, वज्जि मोली, कासी, कोसल, अवाह, संभुत्तर (सुम्होत्तर) (भगवती पंचमांगे) (अनुवादक)

ताम्रलिप्ति) कलिंग (राजधानी कांचनपुर) एवं राढ़ (राजधानी कोडिवरिस अर्थात् कोटिवर्ष) इन्हीं कुछ जनपदों‡ का उल्लेख है। अतएव यह सिद्ध होता है कि जैन साहित्य में अंग, बंग, कलिंग तथा राढ़ आर्यक्षेत्रों की मर्यादा को प्राप्त किये थे। तत्पश्चात् आचारंग सूत्र प्रथम जैन अंग से ज्ञात होता है कि† राढ़ देश में इस समय दो भाग थे एक का नाम सुब्भ अर्थात् सुम्हभूमि तथा दूसरे का नाम वज्रभूमि था। एवं इसी राढ़देश में अचेलक अवस्था में भ्रमण करते समय वर्धमान-महावीर ने बहुत उपसर्ग सहन किये थे। पूर्वोक्त वज्रभूमि के एक अंश का नाम पणीत (अर्थात् प्रणीत) भूमि था। जैन "भगवती" ग्रंथ के मतानुसार इसी पणीत भूमि पर वर्धमान-महावीर एवं गोसाल मंखलीपुत्र ने छ ❀ वर्ष वास किया था।

---

‡ से किं तं खेत्तारिया ? खेत्तारिया अद्धछव्विसइविहा पण्णत्ता तं जहा रायगिह-मगह, चंपा-अंगा, मह तामलित्ति-बंगाय, कंचनपुर-कलिंगा, ...कोडिवरिस च लाढाय....(प्रज्ञापणा, प्रथमस्थान पद ३४) (अनुवादक)

† अह दुच्चर लाढमच्चारी वज्जभूमिं च सुब्भभूमि च, पंतं सेज्जं सेविसु आसाणाइं चेव पंताइं ॥२॥ लाढेसु तस्सुवसग्गा, बहवे लूसिंसु अह लूहदेसिए भते. कुक्कुरा तत्थ हिंसिंसु ॥३॥ इत्यादि

(आचारंग, अ०, ६ उ० ३) (अनुवादक)

❀ भगवती सूत्र में भगवान् महावीर स्वयं कहते हैं :—

"तएणं से गोसाले मंखलिपुत्ते हट्ठे तुट्ठे ममं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं जाव नमंसित्ता, एअं व्यासि-'तुज्भेणं भंते ! मम धम्माचरिया, अहन्नं तुज्भं अंतेवासी'। तएणं अहं गोयामा ! गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स एथमट्ठं पडिसुणेमि। तएणं अहं गोयमा ! गोसालेण मंखलिपुत्तेण सद्धि पणिय भूमिए छव्वासाइं लाभं-अलाभं सुख-दुक्खं, सक्कारम-सक्कारं पञ्चणुब्भवमाणे अणिच्च जागरिय विर-रित्था।" (भगवती पंचमांगे श० १५) (अनुवादक)

इन्हीं समस्त प्रमाणों द्वारा स्पष्ट ज्ञात होता है कि वर्धमान ने स्वयं ही बंगालदेश में धर्म प्रचार किया था। तथा उत्तरवर्ती काल में जैनधर्म ने बंगाल में विशेषतया आदर पाया था। इस लिये बंगाल के जनपदों ने जैन साहित्य में इतना प्रधान स्थान प्राप्त किया है।

ध्यान में रखने की बात है कि ईसा पूर्व पांचवीं शताब्दी में राढ़देश में अर्थात् पश्चिमबंगाल में अन्य धर्मों का अन्दोलन खूब प्रबलता से दिखलाई दिया था एवं इन धर्मों में प्रबल प्रतियोगिता का सूत्रपात हुआ था। राढ़ के अन्तर्गत सुम्ह जनपद में सेदक (अथया देसक) नगर के निकट बुद्धदेव ने धर्म का प्रचार किया था तथा राढ़ के अन्तर्गत वज्रभूमि (अथवा पणित भूमि) में वर्धमान एवं गोसाल ने अपने अपने धर्म का प्रचार किया था। कहना होगा कि इस प्रतियोगिता (संघर्ष) में बौद्धधर्म को हार खानी पड़ी और जैनधर्म विजयी हुआ। संभवतः इसी लिए बौद्ध साहित्य बगालदेश के लिये इस प्रकार मौन था तथा जैन साहित्य इस देश के आर्यत्व अथवा क्षेत्रियत्व के सम्बन्ध में इस प्रकार जागृत है। राढ़ के अन्तर्गत जिस वज्रभूमि में वर्धमान तथा गोसाल ने वास किया था वह वज्रभूमि कहां पर अवस्थित थी अभी तक विद्वान लोग इस बात का निश्चय नहीं कर पाये। हम लिख चुके हैं कि जैन "प्रज्ञापणा सूत्र" के मतानुसार राढ़ की राजधानी कोटिवर्ष थी। कोटीवर्ष आधुनिक दीनाजपुर जिले के अन्तर्गत था। अतएव उस समय राढ़ का विस्तार दिनाजपुर तक था। किन्तु उस समय बंगाल की राजधानी आधुनिक राढ़ के अन्तर्गत

तमलूक अथवा ताम्रलिप्ति थी । जो हो; जैन कल्पसूत्र से ज्ञात होता कि वर्धमान ने साधारणतः चम्पा, वैशाली, मिथिला, राजगृह, श्रावस्ती इत्यादि जनपदों की राजधानी में ही वर्षाकाल व्यतीत किये थे❀। राढ़ के विषय में भी यदि ऐसा ही हो तो कहना होगा कि कोटिवर्ष के निकटवर्ती भूखंड में ही उस समय बज्रभूमि तथा तदन्तर्गत पणित भूमि नाम से परिचित थी। अर्थात् वर्त्तमान दिनाजपुर ज़िला उस समय पणित भूमि अथवा वज्रभूमि के अन्तर्गत था । परन्तु इस में निःसंशय रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता कि इस की अवस्थिति किस भूमि प्रदेश में थी। क्योंकि विद्वान लोग अभी तक इस का निश्चय नहीं कर पाये ! हम पहले लिख आये हैं कि उत्तर काल में कोटिवर्ष के नाम से जैन संप्रदाय की एक शाखा का नामकरण हुआ था एवं पौंड्रवर्धन में अनेक निर्ग्रंथों तथा अजीवकों का वास था । इस से यह धारणा होती है कि पणित (वज्रभूमि) में वर्धमान और गोसाल ने विहार किया था। वह

❀ तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे अट्ठियगामं णीसाए पढमं अंतरावासे वासावासं उवागए, चंपं च पिट्ठचंपं च णीसाए तओ अंतरावासे वासावासं उवागए, वेसालि णगरिं वाणियगामं च णीसाए दुवालस अंतरावासे वासावासं उवागए, रायगिहं णगरं णालंदं च बाहिरियं णीसाए चउद्दस अंतरावासे वासावासं उवागए, छ महिलाए, दो भद्दियाए, एगं आलाभियाए, एगं सावत्थीए, एगं पणिय भूमिए, एगं पावाए मज्झिमाए, हत्थिपालस्स रण्णो रज्जुग सभाए अपच्छिमं अंतरावासं वासावासं उवागए ॥१२२॥

(कल्पसूत्र व्या० ६) (अनुवादक)

पणित भूमि कोटिवर्ष के आसपास का भूखण्ड होना कोई विचित्र बात नहीं है क्योंकि पणित अथवा वज्रभूमि एवं कोटिवर्ष इन दोनों का राढ़ के अन्तर्गत होने का स्पष्ट उल्लेख है।

हम लिख आये हैं कि ईसा पूर्व पांचवीं शताब्दी में बंगाल देश में बौद्ध और जैन दोनों धर्मों का ही प्रचार था किन्तु अल्पकाल में ही प्रतियोगिता में बौद्धधर्म के हार जाने से जैनधर्म ने ही संभवतः प्रधानता प्राप्त की थी। अब यहां स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि आजीवकधर्म का क्या हुआ ? आजीवक संप्रदाय के सम्बन्ध में जैन तथा बौद्ध साहित्य में से जो कुछ विवरण प्राप्त हो उसी से हमें संतुष्ट होना होगा। बौद्ध और जैन साहित्य के प्रसाद से हमें ज्ञात होता है कि गोसाल मंखलीपुत्त नालन्दा में वर्धमान-महावीर के साथ मिला था तथा उस समय से ले कर कुछ समय पर्यन्त वह वर्धमान का अनुगामी रहा किन्तु कुछ दिनों बाद दोनों में मतभेद हो गया तथा गोसाल महावीर के संप्रदाय से अलग हो गया। उस ने वर्धमान से दो वर्ष पूर्व ही (ई० पू० ५५६) कैवल्य प्राप्त होने की घोषणा की एवं आजीवक संप्रदाय की स्थापना की आजीवकों का वेश भी प्रायः निर्ग्रंथों के समान ही था। उन प्रत्येक के हाथ में एक एक मस्कर अर्थात् बांस की लाठी रहती थी। इसीलिये इन को मस्करी बोला जाता था (पाणिनि, ६-१-१५४) और इसी लिये ही गोसाल को जैन और बौद्ध मस्करीपुत्र अथवा मंखलीपुत्त संबोधन करते थे। आजीवकों ने ज्योतिष द्वारा प्रसिद्धि प्राप्त की थी धर्म, मत और अनुष्ठानादि

में आजीवक और निर्ग्रंथ संप्रदाय में अनेक सादृश्य था (camb. Hist. P. 162.) हम लिख आये हैं कि वर्धमान के संग गोसाल ने अनेक दिन राढ़देश में वास किया था। इस से अनुमान किया जा सकता है कि उस ने राढ़देश में भी धर्मप्रचार किया था। बंगाल में भी आजीवकमत के प्रसार के कुछ प्रमाण उपलब्ध हैं। तथा जैन आचारांग सूत्र से ज्ञात होता है कि वर्धमान जब राढ़देश में भ्रमण करते थे, उस समय उन्हों ने अनेक लाठीधारी ❀ सन्यासी देखे थे। कोई कोई विद्वान मानता है कि यही लाठीधारी सन्यासी आजीवक थे। बौद्ध साहित्य के नाना स्थानों में आजीवक सन्यासी ओपक और व्याध कन्या चापा के विषय में एक सुन्दर कथा है। इसी कथा से ज्ञात होता है कि बुद्धदेव की जीवित अवस्था में ही आजीवकधर्म ने पश्चिम बंगाल में खूब प्रचार पाया था। कथा संक्षेप में यह है:— मगधराज्य में बोध-गया के निकट नाल अथवा नालक ग्राम में ओपक का जन्म हुआ था। उस के शरीर का रंग काला था इस लिये उसे लोग काला ओपक कहते थे। एकदा ओपक गया से पूर्व दिशा में भ्रमण करते करते बंकहार (बांकुड़ा ?) जनपद (परसत्थ जोतिका के मतानुसार बंग जनपद) में पहुंच कर व्याधों के एक ग्राम में आया। वहां पर व्याधों के सरदार ने उसे मांस रस देकर उस का सत्कार किया और उसे अपने घर में ही ठहरने का स्थान

❀लाढं गहाय णालीयं समणे तत्थएवि विहरिंसु (आचारंग अ० ६, उ०३)
(अनुवादक)

दिया। व्याध एक दिन अपने पुत्र और भाई को साथ ले कर शिकार के लिए बाहर गया! जाते समय अपनी कन्या चापा को इस आजीवक सन्यासी को सेवा सुश्रूषा का भार सौंप गया किन्तु सन्यासी ने व्याध कन्या के रूप पर मुग्ध होकर मृत्यु प्रण किया कि जब तक मैं इसे प्राप्त न कर लूंगा तब तक अन्न-जल ग्रहण न करूंगा व्याध शिकार से जब वापिस आया तब समस्त वृतांत सुन कर इस ओपक के साथ चापा का विवाह कर दिया। ओपक ने भी व्याध के शिकार के माँस को उठाने और बिक्री करने का भार अपने जिम्मे ले लिया। एक वर्ष बाद ओपक के सुभद्र नामक एक पुत्र का जन्म हुआ। एकदा पुत्र सुभद्र रोने लगा, तब चापा "ओ आजीवक के पुत्र! ओ मांस उठाने वाले के पुत्र!" रो नहीं। ऐसा संबोधन करते हुए उसे चुप करा रही थी। यह बात सुन कर ओपक के मन में अत्यन्त लज्जा उत्पन्न हुई तथा वह किसी की अनुनय विनय की कुछ भी परवाह न करते हुए बंकहार जनपद का परित्याग कर मध्यदेश में चला गया और उसने श्रावस्ती के निकट जेतवन में पहुँच कर बुद्धदेव का शिष्यत्व ग्रहण किया। चापा भी उस के थोड़े समय बाद पुत्र को अपने पिता के पास (अर्थात् पुत्र के नाना के पास) छोड़ कर श्रावस्ती जा कर बौद्धसंघ में जा मिली तथा भिक्षुणियों में विशेष प्रसिद्धि प्राप्त की। उस के द्वारा रचित गाथाएं बौद्ध थेरी गाथा समूह में उपलब्ध होती हैं एवं आज भी हम उन्हें पढ़ सकते हैं।

इस कथा से ज्ञात होता है कि मगध और बंकाहार जनपदों में उस समय आजीवकों का अभाव नहीं था। बंकाहार जनपद के संबन्ध

में हम विशेष कुछ नहीं जानते। यह बांकुड़ा का प्राचीन नाम हो सकता है। तथापि यह तो स्पष्ट ही ज्ञात होता है कि यह जनपद मगध के पूर्व एवं मध्य देश के बाहर होने के कारण बंगाल देश में था। हम 'दिव्यावदान' ग्रंथ से निःसन्देह ज्ञात कर चुके हैं कि अशोक के ममय पौंड्रवर्धन में बौद्धधर्म से आजीवकधर्म की प्रबल प्रतियोगिता चलती थी। एवं यह भी इस ग्रंथ में वर्णन है कि उस समय पौंड्रवर्धन में आजीवकों की संख्या लगभग अठारह हजार थी।

अतएव हम लिख चुके हैं कि ईसा पूर्व पांचवीं शताब्दी के प्रारंभ से तृतीय शताब्दी के अशोक के शासन काल तक कुछ अधिक दो सौ वर्षों तक बंगालदेश में जैन और आजीवकधर्म की ही प्रधानता थी। अशोक और उस के पौत्र दशरथ ने आजीवकों के लिये बराबर तथा नागार्जुन पर्वत (दोनों ही गया जिलान्तर्गत) में छः गुफायें निर्माण कराई थीं इस से हमारा पूर्वोक्त सिद्धान्त समर्थित होता है। अतएव हम यह भी जान चुके हैं कि अशोक के पूर्ववर्ती दो शताब्दियों तक कठोर प्रतियोगिता के फल स्वरूप बौद्धधर्म ने हार खाई थी एवं जैन और आजीवकधर्म ही बंगाल में स्थिरता प्राप्त किये हुए थे। किन्तु जब उत्तरवर्ती काल में पृष्टपोषकता (सहायता) के फल स्वरूप बौद्धधर्म प्रबल हो उठा था उस समय जैनधर्म तो अपनी रक्षा कर टिका रहा किन्तु आजीवक धर्म विलुप्त हो गया। ऐसा अनुमान होता है कि कालक्रम से आजीवकधर्म जैनधर्म में समा गया था। क्योंकि आजीवक संप्रदाय एवं दिगम्बर जैन संप्रदाय में धर्म मत और अनुष्ठानगत नाना प्रकार का सादृश्य था इस लिये उन को एक दूसरे में विलीन हो जाने में कोई विशेष बाधा नहीं थी। ये दोनों संप्रदाय कालक्रम से आपस में मिल गये थे, इस अनुमान की पुष्टि के लिये दो एक प्रमाण भी उपलब्ध हैं। प्रथम प्रमाण

दिव्यावदान का है, हम इस ग्रंथ में देखते हैं कि एक ही घटना के प्रसंग में बौद्ध विरोधी संप्रदाय को कभी निर्ग्रंथ कभी आजीवक बोल कर संबोधन किया गया है इस से मालूम होता है कि 'दिव्यावदान' ग्रंथ रचने के समय ही निर्ग्रंथों और आजीवकों की भिन्नता तृतीय पक्ष के लिये अस्पष्ट हो चुकी थी (अर्थात् दूसरे संप्रदायों के लिये निर्ग्रंथों और आजीवकों की भिन्नता का जानना कठिन हो गया था)। दूसरे हम पहले कह चुके हैं कि दिगम्बर आजीवक लोगों ने ज्योतिषी के नाम से ख्याति प्राप्त की थी। जातक के प्रमाण से ज्ञात होता है कि बुद्ध के जीवित काल में ही आजीवक लोग ज्योतिषी रूप में भ्रमण करते थे। दिव्यावदान के मतानुसार चन्द्रगुप्त के पुत्र बिन्दुसार की राजसभा में पिंगलवत्स नामक आजीवक ज्योतिषी था। पुनः ईसा की सातवीं शताब्दी में ह्यूसांग के समय निर्ग्रंथों ने ही ज्योतिषी रूप में ख्याति प्राप्त की थी (Beal II P. 168) इस से यह धारणा होती है कि आजीवक संप्रदाय जैन संप्रदाय में मिल गया होगा।

अब यहां पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जिस समय बौद्ध जैन और आजीवक धर्म बंगालदेश में प्रधानता प्राप्त करने के लिये प्रतियोगिता में लगे हुए थे उस समय वैदिक ब्राह्मणधर्म क्या करता था ? क्या उस समय यह वैदिक ब्राह्मणधर्म बंगाल में प्रतिष्ठा प्राप्त कर सका ? इसी प्रश्न के सम्बन्ध में दो एक बात कह कर ही हम इस प्रबन्ध को समाप्त करेंगे।

विदेह, अंग और मगध पूर्वभारत की पश्चिम दिशा में अवस्थित थे। अतएव मध्यदेश का वैदिक आर्य प्रभाव संभवतः इन्हीं तीनों जनपदों पर पहले पड़ा था। बंगालदेश में आर्य सभ्यता इन से पीछे आई, ऐसा वृत्तांत है।

अतएव इन तीनों जनपदों में वैदिक आर्य सभ्यता ने कब और कहां तक प्रसार प्राप्त किया था इस के लिये संक्षेप से विचार करने की आवश्यकता है। शतपथ ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि एक समय सदानीरा (अर्थात गंडक) नदी के पूर्ववर्त्ती विदेह जनपद में आर्यों के वासस्थान नहीं थे। परन्तु उत्तरवर्ती काल में बहुत ब्राह्मणों ने इस जनपद में आर्य सभ्यता और धर्म के चिन्ह स्वरूप यज्ञाग्नि प्रज्वलित की थी। मिथिला के सम्राट जनक के शासनकाल में विदेह आर्य सभ्यता एवं धर्म का अन्यतम प्रधान केन्द्र गिना जाता था। सम्राट जनक बुद्धदेव (ई० पू० छठी शताब्दी) से दो पुरुष पूर्ववर्त्ती थे। अतएव जनक ई० पू० सातवीं शताब्दी में विद्यमान थे ऐसा कह सकते हैं। एवं उस समय बंगाल-देश से संलग्न पश्चिम सीमा में आर्यों की सभ्यता और धर्म की खूब चढ़ती थी। किन्तु उत्तरवर्ती काल के स्मृति में देखने से ज्ञात होता है कि विदेह एक मिश्र जाति का नाम था। अथर्व वेद में अङ्ग और मगध को आर्य सभ्यता की सीमा से बाहर गिना हुआ है। किन्तु 'एतरेय ब्राह्मण में' अङ्ग विरोचन' नामक अङ्गराज के अश्वमेध यज्ञ और दानशीलता की कथा वर्णित है अतएव 'एतरेय ब्राह्मण' के समय में (ई० पू० आठवीं शताब्दी) अङ्ग में अर्थात् बंगाल के निकट-वर्त्ती देश में आर्य वैदिकधर्म ने अच्छी तरह से प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी। तथा इस ब्राह्मण ग्रंथ ने पौंड्रदेश वासियों को 'दस्यू' अर्थात§ अनार्य उल्लेख किया है, एवं बोधायन के धर्मसूत्र में अङ्ग देश, को मिश्र जाति (संकीर्ण योनि) कह कर वर्णन किया हुआ है। तत्पश्चात् यजुर्वेद में देखने से ज्ञात होता है कि पुरुषमेध यज्ञ के समय मगधदेश के निवासियों को पकड़ कर बलि दिया जाता था। अथर्व

§ असभ्य जाति।

वेद में मगध को आर्य‡ सीमा से बाहर वर्णन किया है और इसी वेद में मगध को व्रात्यों का अर्थात्❀ वर्णशंकरों का केन्द्र

‡ सभ्य जाति।

❀ अथर्ववेद में व्रात्यों का प्रिय धाम प्राची दिशा को बताया है। यहां मगध (बङ्गाल-बिहार-उड़ीसा) की ओर संकेत किया गया है। श्रमण संस्कृति में व्रत धारण करने के कारण श्रमणों को व्रात्य कहा गया है व्रात्य अर्थात् व्रत धारण करने वाले। इस लिए जैन-निर्ग्रंथ तथा श्रावक व्रात्य थे। ये ब्राह्मण वेदों को प्रमाण नहीं मानते थे। याग-यज्ञ और पशुहिंसा का रिवोध करते थे। तपस्या से आत्म-शोधन में विश्वास करते थे। इस लिये इन को व्रात्य कहा गया है। क्योंकि जैनधर्म के संचालक चौवीस तीर्थंकर सभी क्षत्रीय थे इस लिये यहां के क्षत्रियों को भी वैदिक आर्यों ने "व्रात्य क्षत्रीय" के नाम से व्यंग रूप से वर्णशंकर के अर्थ रूप में संबोधन किया है। तथा चारों वर्णों के लोग जैनधर्म के अनुयायी थे और वैदिक आर्यों के याग-यज्ञ और पशुहिंसा के विरोधी थे इसी लिए वैदिक आर्यों ने इन्हें क्षत्रीयबन्धु ब्राह्मणबन्धु, अप-ब्राह्मण अथवा अप-क्षत्रीय अनार्य, व्रात्य इत्यादि संबोधन किया है।

क्योंकि बौद्धधर्म जैनधर्म से नवीन और वेद रचना काल से भी पीछे पैदा हुआ था। इस लिये वेदों में जिन्हें व्रात्य के नाम से उल्लेख किया गया है वे जैन निर्ग्रंथ और जैन श्रावक ही थे जो कि भारत के प्राचीनतम धम के अनुयायी थे।

हमारी इस धारणा की पुष्टि के लिये अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। यहां पर मात्र एक प्रमाण दे कर ही इस विवेचन को समाप्त करते हैं।

सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य जैनधर्मानुयायी था और वह व्रात्यक्षत्रीय जाति से था जैन तथा बौद्ध साहित्य के अनुसार वह शुद्धक्षत्रीय वंशोद्भव था। परन्तु ब्राह्मण पुराण एवं साहित्यकारों ने इसे मुरा नामक एक शुद्रा स्त्री का पुत्र होने का उल्लेख किया है। प्रो० सी० डी० चटर्जी ने इस प्रश्न पर विस्तार पूर्वक दविश विवेचन किया है। 'मुरा' के अस्तित्व को ये निरा कपोल कल्पित मानते हैं और 'मोरिय' नाम के क्षत्रियकुल में ही इस का उत्पन्न होना सिद्ध करते हैं।

(अनुवादक)

लिखा हुआ है। यदि और भी उत्तरवर्ती काल को देखें तो व्रात्य-स्तोम यज्ञ के द्वारा-मगधनिवासी व्रात्यों को आर्यधर्म में दीक्षित करने की व्यवस्था भी पाई जाती है । किन्तु उस समय के मगधदेश के ब्राह्मणों को भी 'ब्राह्मणबन्धु' अर्थात् अप-ब्राह्मण कह कर उन के प्रति घृणा प्रगट की जाती थी। पुराणों में भी इन्हों ने बिम्बसार; अजातशत्रु प्रभृति विख्यात मगध के राजाओं को 'क्षत्रबन्धु' अर्थात् व्रात्य-क्षत्रीय अथवा अप-क्षत्रीय कह कर तुच्छ गिना है। परन्तु कौशीतकी अथवा सांख्यायन आरण्यक में मध्यम और प्रतिबोधिपुत्र नामक दो मगधवासी ब्राह्मणों के लिये यथेष्ठ सम्मान प्रदर्शन किया हुआ है। उक्त सांख्यायन आरण्यक ग्रंथ ई० पू० छठी शताब्दी में रचा गया था। ऐसी मान्यता के लिये यथेष्ट हेतु हैं। पुनः बोधायन के धर्म सूत्र में मगधवासियों को मिश्रजाति (संकीर्ण यानि) सम्बोधन कर वर्णन किया गया है। इन्हीं सब प्रमाणों से एक मात्र यही सिद्धांत निश्चित किया जा सकता है कि ई० पू० छठी शताब्दी में आर्य लोग विदेह, अंग और मगध में थोड़ा बहुत स्थान प्राप्त कर पाये थे। इन्हीं तीनों जनपदों के अधिवासियों ने इसी समय इन आर्यों की सभ्यता और धर्म मात्र आंशिक रूप से ग्रहण किया था। इसीलिये मध्यदेशवासी आर्यों के द्वारा यहां के लोग 'ब्राह्मणबन्धु' 'क्षत्रबन्धु' अथवा' संकीर्ण-योनि' आदि मिश्रत्व बोधक विशेषणों द्वारा संबोधित हुए थे।

विदेह, अंग और मगध में आर्यों ने आकर वसति (निवास स्थान) बनाने प्रारंभ किये थे। ई० पू० छठी शताब्दी के बहुत पहले

से ही, यहां तक कि माथव, विदेघ के पूर्व भी विदेह में बहुत ब्राह्मण वास करते थे इस प्रकार शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख पाया जाता है। उस के बाद माथव, विदेघ एवं उनके पुरोहित गोतमराहू गण अंग, विरोचन तथा उसका पुरोहित उदमय, राजर्षि जनक एवं ब्रह्मज्ञ ऋषि याज्ञवल्क, मगधवासी ब्राह्मण मध्यम तथा प्रतिबोधिपुत्र ये सब ईसा पूर्व आठवीं से छठी शताब्दी तक विदेह अंग और मगध जनपदों में सम्मानसहित वास करते थे। विचार करने की आवश्यकता है कि बोधायन जैसे अत्यन्त श्रद्धालु विद्वान ने भी इन सब जनपदों में आर्यों के वास का निषेध नहीं किया। तथापि ई० पू० छठी शताब्दी में भी इन सब जनपदों में (यहां तक कि विदेह में भी) असल निवासियों ने मध्यदेश के धर्मनिष्ठ आर्यों द्वारा ब्राह्मणबन्धु, क्षत्रबन्धु, संकीर्ण-योनि प्रभृति अवज्ञा सूचक विशेषण ही प्राप्त किये हैं।

अतएव जिस समय विदेह, मगध और अंग के निवासियों ने आंशिक भाव मात्र से ही आर्य-सभ्यता और आर्य-धर्म ग्रहण किया था एवं जिस समय यहां का धर्म भी सभ्यताभिमानी आर्यों के निकट अवज्ञा मात्र ही प्राप्त करता था, उसी समय अर्थात् ई० पू० छठी शताब्दी में विदेह, मगध और अंग से पूर्ववर्त्ती बंगालदेश में आर्यों का धर्म तथा सभ्यता प्रतिष्ठित न हो सके थे, यह बात सहज में ही अनुमान की जा सकती है। आर्यों में से कोई-कोई अथवा अनेकों व्यक्तियों ने उस समय विचित्रता और नवीनता के आकर्षण से अथवा भूख के भय से संतप्त (जैसा कि हरिवंश से ज्ञात होता है) हो कर विदेह और अंग की पूर्व सीमा को अतिक्रम कर बंगालदेश में प्रवेश किया था। कोई कोई बंगालदेश के नगरों को देख कर वापिस

लौट आये थे (जैसा कि बोधायन से ज्ञात होता है) एवं किसी किसी ने तो इन सब प्रदेशों में स्थाई रूप से वसति (निवास स्थान) स्थापित कर ली थीं। किन्तु यह बात तो निश्चित ही है कि ईसा पूर्व आठवीं शताब्दी से छठी शताब्दी तक आर्यों ने यदि बंगालदेश में प्रवेश किया भी हो तो भी उनकी संख्या और शक्ति इतनी नगण्य थी कि उस समय आर्य सभ्यता और धर्म ने बंगालदेश में विशेष रूप से प्रसार पाया हो ऐसी धारणा नहीं की जा सकती। वस्तुतः ई० पू० छठी शताब्दी तक बंगालदेश में वैदिकधर्म और सभ्यता ने प्रवेश किया हो, इस बात की पुष्टि के लिये वैदिक साहित्य में कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

तथापि ध्यान में रखने की बात है कि ईसा पूर्व छठी शताब्दी में ही हर्यांकराज बिम्बसार, गौतमबुद्ध, वर्धमान-महावीर, गोसाल मंखलीपुत्त प्रभृति का आविर्भाव एवं अंतिम तीनों द्वारा प्रचारित बौद्ध, जैन तथा आजीवक धर्मों का अभ्युदय हुआ था। वैदिक धर्माभिमानी आर्य लोगों ने विदेह, अंग तथा मगध के निवासियों की जो अवज्ञा की थी उसके प्रतिवाद तथा प्रतिक्रिया से ही बौद्ध जैन तथा आजीवक धर्म उत्पन्न हुए या नहीं इस विषय का विवेचन ऐतिहासिक लोग ही कर सकते❋ हैं। इस स्थान पर मेरे लिये इस आलोचना में प्रवृत्त होना निष्प्रयोजनीय है। जो हो; मैंने जो समस्त

❋विदेशी विद्वानों में प्रो० लासेन ने लिखा है (S. B. E. Vol. 22 Introduction P. 18, 19) कि बुद्ध और महावीर एक ही व्यक्ति हैं क्यों कि जैन और बुद्ध परम्परा की मान्यताओं में अनेक विध समानता है। थोड़े वर्षों के बाद अधिक साधनों की उपलब्धि तथा अध्ययन के बल पर प्रो०

प्रमाण उपस्थित किये हैं उन से यह बात स्पष्टता पूर्वक सिद्ध होती है कि जिस समय जैन, बौद्ध और आजीवकधर्म बंगालदेश में प्रचार पा रहे थे उस समय इस देश में वैदिक आर्य लोगों के सामान्य परिमाण में प्रवेश करने पर भी वैदिक-आर्य-धर्म कुछ भी प्रतिष्ठा प्राप्त न कर सका था। अर्थात् बंगालदेश में, जैन, बौद्ध और आजीवक धर्मों ने ही वैदिक-आर्य-धर्म से पूर्व प्रतिष्ठा प्राप्त की थी।

बेवर आदि विद्वानों ने यह मत प्रकट किया कि जैन-धर्म, बुद्ध-धर्म की एक शाखा है, वह इस से स्वतंत्र नहीं है। आगे चल कर विशेष साधनों की उपलब्धि और विशेष परीक्षा के बल पर प्रो० याकोबी ने उपर्युक्त दोनों मतों का निराकरण करके यह स्थापित किया कि जैन और बौद्ध संप्रदाय दोनों स्वतंत्र हैं इतना ही नहीं किन्तु जैन संप्रदाय बौद्ध संप्रदाय से पुराना भी है और ज्ञातपुत्र-महावीर तो जैन संप्रदाय के अंतिम पुरस्कर्ता मात्र हैं। करीब सवा सौ वर्ष जितने परिमित काल में एक ही मुद्दे पर ऐतिहासिकों की राय बदलती रही। प्रो० याकोबी ने लिखा है कि "अब इस बात से सब सहमत हैं कि नातपुत्त जो महावीर अथवा वर्धमान के नाम से प्रसिद्ध है, बुद्ध के समकालीन थे।

बौद्धग्रंथों में मिलने वाले उल्लेख हमारे इस विचार को दृढ़ करते हैं कि नातपुत्त (वर्धमान) से पहले भी निर्ग्रंथों का (जो आज जैन अथवा आर्हत के नाम से अधिक प्रसिद्ध हैं) अस्तित्व था। जब बौद्धधर्म उत्पन्न हुआ तब निर्ग्रंथों का संप्रदाय एक बड़े संप्रदाय के रूप में गिना जाता होगा। बौद्ध पिटकों में कुछ निर्ग्रंथों का बुद्ध और उसके शिष्यों के विरोधी के रूप में और कुछ का बुद्ध के अनुयायी बन जाने के रूप में वर्णन आता है।

इस सिद्धान्त के अनुकूल (पुष्टि में) और भी प्रमाण हैं। यहां संक्षेप में उनका उल्लेख करना भी आवश्यक है। बोधायन के धर्म-सूत्र में अंग और मगध के निवासियों को मिश्रजाति (संकीर्ण योनि) संबोधित कर वर्णन किया है किन्तु इन दोनों जनपदों में आर्यों के वास का निषेध नहीं किया। हम ने दूसरे प्रमाणों द्वारा भी देखा है कि उस समय अंग और मगध में आर्य लोग सम्मान पूर्वक वास

इस पर से हम उक्त बात का अनुमान कर सकते हैं। इस के विपरीत इन ग्रंथों में किसी भी स्थान पर ऐसा कोई उल्लेख वा सूचक वाक्य देखने में नहीं आता कि निर्ग्रंथों का संप्रदाय एक नवीन संप्रदाय है और नातपुत्त (महावीर) इसके संस्थापक हैं। इस पर से हम अनुमान कर सकते हैं कि बुद्ध के जन्म से पहले अति प्राचीन काल से निर्ग्रंथों का अस्तित्व चला आता है।

फ्रैंच विद्वान गेरिनाट का कहना है कि :—

There can nct longer be any doubt that Parsva was a Historical Personage. According to the Jain Tradition he must have lived a hundred years and died 250 years before Mahavira. His period of activity, therefore corresponds to the 8th century B.C.

The Parents of Mahavira were followers of religion of Parsva....The age we live in, there have appeard 24 Prophets of Jainism. They are ordinarily called Tirthankras with the 23rd Parsvanath we enter into the region of History of reality (Introduction to his essay of Jain Bibliography)

करते थे। किन्तु बोधायन के इसी धर्म-सूत्र में बंग जनपद का उल्लेख भी आर्यावर्त से बाहर किया हुआ है। मात्र इतना ही नहीं किन्तु बंग और कलिंग जनपदों में आर्यों का प्रवेश ही अवांछनीय है। इस ग्रंथ में विशेष रूप से ऐसी आज्ञा भी निर्देश की हुई है कि यदि कोई इन दोनों जनपदों में प्रवेश करेगा और फिर वहां से वह वापिस आयेगा तो उसे प्रायश्चित ले कर शुद्ध होना आवश्यक है।

इन उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि जैनधर्म का ई० पू० आठवीं शताब्दी में तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने भी प्रचार किया था।

जैनों की मान्यतानुसार अनेक तीर्थंकरों ने प्रत्येक युग में बारम्बार जैनधर्म का उद्योत किया है (Hem V. V. 50, 51) वर्त्तमान युग के प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव तथा अन्तिम दो श्री पार्श्वनाथ और महावीर होगये हैं। श्री पार्श्वनाथ के विषय में लेसन कहता है कि "इस जिन की आयु उस के पुरोगामियों के समान संभावित मर्यादा का उल्लंघन नहीं करती। यह प्रमाण इस के ऐतिहासिक पुरुष होने के मत को खास पुष्ट करता है। (Lesson I. A. ii, P. 261) तथा मथुरा के जैनशिलालेखों से ज्ञात है कि गृहस्थ भक्तों के ऋषभदेव को अर्ध्य देने के उल्लेख मिलते हैं (E. I. p. 386; Ins no VIII) इस के अतिरिक्त अनेक शिलालेखों में अर्हत् का नहीं परन्तु अर्हन्तों का उल्लेख है (Ibid p, 383 Ins no. III)। "ये सब लेख इंडो साईथिक (Indo-scythic) समय के होने चाहियें ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। अथवा यदि कनिष्क तथा उन के वंशजों के समय शकयुग के साथ मिलते आते होंगे तो प्रथम तथा दूसरी

यह ग्रंथ सूत्र संभवतः ई० पू० छठी शताब्दी का बुद्ध, महावीर और गोसाल से भी पहले का रचित है। अतएव यह बात निश्चित है कि इस समय तक ब्राह्मणधर्म ने विशेष रूप से विस्तार प्राप्त नहीं किया था। तथा यह बात भी ठीक है कि जो लोग कलिंग और बंग जायेंगे उन्हें वापिस लौटने पर प्रायश्चित ले कर शुद्ध होना पड़ेगा ऐसी व्यवस्था इस ग्रंथ में होने से इन दोनों जनपदों में जाने का तथा लौटने का कथन नहीं है। और

शताब्दी के लेख प्रतीत होते हैं (Ibid P. 371)। विशेष में यह अर्ध्य एक से अधिक अर्हन्तों को तथा खास कर श्री ऋषभदेव को अर्पण किया गया है। यह इस बात की पुष्टि करता है कि जैनधर्म का प्रारंभकाल अति प्राचीन है तथा यह भी स्पष्ट करता है कि ऋषभदेव के समय से लेकर क्रमशः अनेक तीर्थंकर होते आये हैं। इन्हीं सब आधारों के कारण पाश्चात्य तथा भारतीय निष्पक्ष ऐतिहासिक विद्वानों ने लिखा है कि जैनधर्म बहुत प्राचीन काल से चला आता है तथा वेदों में भी जैनधर्म के तीर्थंकरों का ज़िक्र आता है। भारत के उपप्रधान डा. सर. राधाकृष्णन लिखते हैं कि :— There is evidence to show that so far back as the first century B.C. there were people who were worshiping Rishabhadeva, the first Tirthankra. There is no doubt that Jainism prevailed even before Vardhamana or Parsvanath. The Yajurved mentions the names of three Tirthankras, Rishabha, Ajitnath and Arishtnemi. The Bhagwat Puran endorses the view

न ही इन दोनों जनपदों में स्थाई भाव से आर्य लोगों का वसति स्थापन कर सकने का वर्णन है। परन्तु ई० पू० तीसरी शताब्दी में सम्राट अशोक के शिलालेख से हम जान सकते हैं कि इस के शासन काल में (ई० पू० २७२ से २३२) बोधायान के [illegible] भाव से निषिद्ध कलिंग जनपद में भी बहुत ब्राह्मणों की वसति थी तथा उस के साम्राज्यवर्ती किसी भी जनपद में यहां तक कि वंग में भी ब्राह्मणों का अभाव नहीं था। इतना प्रमाण मिलने पर भी यह विशेष

---

that Rishbha was the founder of Jainism. (Indian Philosophy Vol 1. P.287)

तथा :—The discoveries have to a very large extent supplied corroboration to the written Jain tradition and they offer tangible inconvertible proof of the antiquity of the Jain Religion and of its early existence very much in its present form. The series of twenty four pontiffs (Tirthankras), each with his distinctive emblem, was evidently firmly believed in at the beginning of the Christian era.

(The Jain stup Mathura Intro. P. 6.

इसके अतिरिक्त हमारे सामने जैनों के एक बड़े तीर्थ के स्मारक की सिद्धि भी है जो हज़ारीबाग़ ज़िला अन्तर्गत सम्मेतशिखर का पहाड़ है, जो कि पार्श्वनाथ हिल के नाम से प्रसिद्ध है (Eldirooke, opcit, ii p. 213) कल्पसूत्र आदि अनेक जैन

उल्लेखनीय है कि शुंग सम्राट पुष्यमित्र (ई० पू० १८५ से १४६) के पुरोहित मगधवासी ब्राह्मण वैयाकरणिक पातंजल ने अपने सुविख्यात महाभाष्य ग्रंथ में बंगाल जनपद को आर्यावर्त से बाहर ही गिना है। (अर्थात् ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी तक वैदिक आर्य ग्रंथों में वंग जनपद का आर्य भूमियों में उल्लेख नहीं मिलता) परन्तु अनुमानतः लगभग ईसा की प्रथम शताब्दी के मनुसंहिता में हम देखते हैं कि बंगालदेश को आर्यावर्त के मध्यवर्ती स्वीकार किया है।

अतएव यह बात निःसन्देह है कि बंगालदेश में वैदिक आर्यधर्म ने जैन, बौद्ध और आजीवकधर्मों के बाद प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। तो बंगालदेश में सर्व प्रथम किस भारतीय धर्म ने प्रतिष्ठा एवं विस्तार प्राप्त किया था ? इसी प्रश्न के उत्तर के लिये अब यहां विचार करने की आवश्यकता है। हम पहले

आगमों में इस पर्वत पर पार्श्वनाथ के निर्वाण पाने से पहले अनेक तीर्थंकरों के आने तथा वहीं मोक्ष पाने के प्रमाण उपलब्ध हैं पार्श्वनाथ भी इस पर्वत पर मोक्ष पाये थे। (Kalpsutra Sut 168)।

एवं वैदिक आर्यधर्म के वेदों को वर्त्तमान ऐतिहासिक विद्वान साढ़े तीन हज़ार (१५०० ई० पू०) वर्ष पुराने मानते हैं। जब वैदिक आर्य भारत में आये तो उन के आने से पहले यहां जैनधर्म प्रचलित था तथा इस जैनधर्म की आध्यात्मिकता और पवित्रता से वे इतने प्रभावित हुए कि वेदों, पुराणों तथा स्मृतियों में जैन तीर्थंकरों के प्रति अपनी श्रद्धा और भक्ति से नतमस्तक हो कर उनकी शरण प्राप्त करने के लिये उत्सुक हो पड़े। यहां पर इन के कुछ उद्धरणों का उल्लेख करना उचित प्रतीत होता है :—

विस्तार पूर्वक लिख आये हैं कि बंगालदेश में जैन, बौद्ध एवं आजीवक धर्मों का विस्तार तथा इन्हें ही प्रतिष्ठा प्राप्त थी। इन में से भी प्रथम दो शताब्दी तक बंगालदेश में बौद्धधर्म प्रतियोगिता के कारण

"ॐ नमोऽर्हन्तो ऋषभो वा ॐ ऋषभं पवित्रम् ।"

(यजुर्वेद अध्याय २५ मंत्र १९)

"ॐ रक्ष रक्ष अरिष्टनेमि स्वाहाः ।
वामदेव शान्त्यर्थमुपविधीयते सोऽस्माकं अरिष्ठनेमि स्वाहाः ।"

(यजुर्वेद अध्याय २५)

"ॐ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्तिनः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्तिनस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्तिनो बृहस्पतिर्दधातु ।"

(ऋग्वेद अष्टक १ अध्याय ६)

"रैवताद्रो जिनो नेमिः युगादिर्विमलाचले ।
ऋषिणाश्रमा देव, मुक्तिमार्गस्य कारणम् ।"

(प्रभास पुराण)

"नाहं रामो न मे वांछा, भावेषु च न मे मनः ।
शांति-मास्थातु-मिच्छामि चात्मन्येव जिनो यथा ।
दर्शनवर्त्म वीराणां सुरासुर नमस्कृत्य ।
नीति त्रितय कर्तायो युगादौ प्रथमो जिनः ।"

(मनुस्मृति)

"प्रथम ऋषभो देवो जैनधर्म प्रवर्तकः ।
एकादशः सहस्राणि शिष्याणां धरितो मुनिः ।
जैनधर्मस्य विस्तारे करोति जगति तले ॥"

(श्रीमाल पुराण)

इन सब उद्धरणों से यह बात निश्चित है कि जैनधर्म न मात्र ऐतिहासिक युग से ही प्राचीन हैं किन्तु वैदिक ब्राह्मणधर्म से भी अत्यत प्राचीन है। ब्राह्मण पुराणों और वेदों में जैन तीर्थंकरों एवं जैन सिद्धान्तों के पर्याप्त उल्लेख उपलब्ध हैं। अतएव जैनधर्म के प्रारम्भ को निश्चित तिथि ज्ञात करना इतना सरल कार्य नहीं है किन्तु अशक्य है।

प्रसार प्राप्त न कर सका था। अतएव जैन और आजीवक धर्मों को ही बंगाल के आदि धर्म स्वीकार करना होगा। हम पहले कह आये हैं कि उत्तरवर्ती काल में आजीवकधर्म संभवतः जैनधर्म में मिल गया था। इस लिये ईसा की सातवीं शताब्दी में ह्यूसांग ने बंगालदेश में आजीवक संप्रदाय को नहीं देखा था किन्तु निर्ग्रंथों का ही यथेष्ट प्रभाव देखा था।

अतएव ईसा पूर्व छठी शताब्दी से वर्धमान-महावीर के समय से लेकर ईसा की सातवीं शताब्दि ह्यूसांग के समय तक इन तेरह

अतः इस "बंगाल का आदि धर्म" लेखक का यह लिखना कि "वैदिक-धर्माभिमानी आर्य लोगों ने विदेह, अंग तथा मगध के निवासियों की जो अवज्ञा की थी उस के प्रतिवाद तथा प्रतिक्रिया से ही जैन आदि तीनों धर्म उत्पन्न हुए या नहीं इस विषय का उल्लेख ऐतिहासिक लोग ही कर सकते है इत्यादि"। इस बात को लक्ष्य में रखते हुए हम ने यहां पर इस विषय को ऐतिहासिक विद्वानों के जैनधर्म की प्राचीनता सम्बन्धी संक्षिप्त उद्धरण दे कर यह बात स्पष्ट करना उचित समझा है कि जैनधर्म का आविर्भाव वैदिकधर्म के अभिमानी आर्य लोगों की अवज्ञा के प्रतिवाद तथा प्रतिक्रिया से उत्पन्न नहीं हुआ। किन्तु इस अत्यंत प्राचीनतम भारतीय जैनधर्म ने वैदिक आर्यों द्वारा मानव-बली तथा पशु-बली की पैशाचिक वृत्ति का प्रबल विरोध करके उसे भी परिष्कृत करने का भगीरथ प्रयत्न कर के भारत की पवित्र भूमि को कलंकित होने से सदा के लिये सुरक्षित किया। भारत गौरव स्वर्गवासी लोकमान्य तिलक ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि वैदिक ब्राह्मणधर्म पर अहिंसा की गहरी छाप जैनधर्म ने ही डाली है। अतः यह कह सकते हैं कि भारतीय प्राचीन आर्य संस्कृति के अन्तिम श्वास लेते समय उसे संजीवनी-दाता भगवान महावीर ही थे। मानव संसार को मानवता का पाठ पढ़ाने वाले परमगुरु महावीर ही थे। बलिदान की जलती ज्वालाओं

सौ वर्षों तक जैनधर्म बंगालदेश में सफला पूर्वक अपने अस्तित्व और प्राधान्य की रक्षा करने में समर्थ रहा। किन्तु ह्यु सांग के बाद बंगालदेश में बौद्धधर्मावलम्बी पाल राजा के शासनकाल में एवं शांत रक्षिक, दीपंकर प्रभृति शक्तिशाली और सुविख्यात बौद्ध प्रचारकों के प्रभावकाल में बंगालदेश में बौद्धधर्म ने ही प्रधान स्थान प्राप्त किया था। एवं जैनधर्म क्रमशः क्षीण बल होते होते अंत में (इस देश से) एकदम विलुप्त हो✻ गया। बंगाल से जैनधर्म के विलोप

में नष्ट होते हुए उपकारी और उपयोगी पशुओं तथा मनुष्यों के प्राणदाता महावीर ही थे। अनेक प्रकार के नवीन धर्म संप्रदायों के मतभेदों से उत्पन्न होने वाले विग्रहों का स्याद्वाद शैली से समाधान कर सब को एकसूत्र में संघठित करने वाले सूत्रधार महावीर ही थे। इस मायावी मृगजल की तृष्णा में तड़पते हुए प्राणियों को आत्मज्ञान का अमृतपान कराने वाले महातत्त्वज्ञ महावीर ही थे। सृष्टि के निर्माता की कल्पना में पुरुषार्थहीन बन कर बैठने वाली प्रजा को अपने पुरुषार्थ भरे कर्त्तव्य का भान करानेवाले मार्गदर्शक महावीर ही थे।

(अनुवादक)

✻बंगालदेश में आज भी सर्वत्र लाखों की संख्या में एक ऐसी जाति पायी जाती है जो "*सराक*" के नाम से प्रसिद्ध है और कृषि, कपड़ा बुनने तथा दुकानदारी आदि का व्यवसाय करती है। इस लेख में ह्यु सांग की यात्रा के विवरण में जिन जिन स्थानों का उल्लेख है उन सब स्थानों में प्रायः यह जाति आज भी विद्यमान है। ये लोग उस प्राचीन जैन श्रावकों के वंशज हैं जो जैन जाति का अवशेष रूप हैं। यह जाति आज प्रायः हिन्दू धर्म की अनुयायी है। कहीं कहीं अभी तक ये लोग अपने आपको जैन समझते हैं। इस जाति के विषय में अनेक पाश्चिमात्य तथा भारतीय विद्वानों ने उल्लेख किया है, जिस का अति संक्षेप रूप से यहां परिचय देना असंगत न होगा।

होने का इतिहास खूब ही उत्कंठित करने वाला है। किन किन कारणों

इस देश में एक खास तरह के लोग रहते हैं जिन को "*सराक*" कहते हैं इनकी संख्या बहुत है। ये लोग मूल में जैन थे। तथा इन्हीं की कहावतों और इनके पड़ौसी भूमिजों की कहावतों से मालूम होता है कि :—ये एक जाति की संतान हैं जो भूमिजों के आने के समय से भी पहिले यहां बहुत प्राचीन काल से बसी हुई थी। इन के बड़ों ने पार, छुर्रा, बोरा और भूमिजों आदि जातियों के पहले अनेक स्थानों पर मन्दिर बनवाये थे यह अब भी सदा से ही एक शांतमयी जाति है जो भूमिजों के साथ बहुत मेलजोल से रहती है। कर्नल डैलटन के मतानुसार ये जैन हैं और ईसा पूर्व छुठी शताब्दी से ये लोग यहां आबाद हैं।

यह शब्द "*सराक*" निःसंदेह श्रावक से निकला है जिस का अर्थ संस्कृत में सुनने वाला है। जैनों में यह शब्द गृहस्थों के लिये आता है जो लौकिक व्यापार करते हैं और जो यति या साधु से भिन्न हैं (मि० गेट सेंसर्स रिपोर्ट)

मानभूम के सराक यद्यपि वे अब हिन्दू हैं परन्तु वे अपने प्राचीन काल में जैन होने की बात को जानते हैं। वे पक्के शाकाहारी हैं मात्र इतना ही नहीं परन्तु काटने के शब्द को भी व्यवहार में नहीं लाते। (मि० सरसली)

सराक लोग हिंसा से घृणा करते हैं, दिन को खाना अच्छा समझते हैं, सूर्योदय बिना भोजन नहीं करते, गूलर आदि कीड़े वाले फलों को नहीं खाते, श्री पार्श्वनाथ को पूजते हैं और उनको अपना कुलदेवता मानते हैं (एव कूपलैंड)

इन के गृहस्थाचार्य रात को भात भी नहीं खाते, उन में एक कहावत प्रसिद्ध है :—"डोह 'डूमर (गूलर)' पोढ़ो, छाती ए चार नहीं खाये श्रावक जाति।"

इस जाति का अभिमान है कि इस में से कोई भी व्यक्ति किसी फौजदारी अपराध में दंडित नहीं हुआ। और अब भी संभव है कि इनको यही अभिमान है कि इस बृटिश राज्य में भी किसी को अब तक कोई फौजदारी अपराध का

दंड नहीं मिला। वे वास्तव में शांत और नियम से चलने वाले हैं। अपने आप और पड़ोसियों के साथ शांति से रहते हैं। ये लोग बहुत प्रतिष्ठित तथा बुद्धिमान मालूम होते हैं (कर्नल डैलटन)

इन के प्राचीन कारीगरी के बहुत से चिन्ह अवशेष हैं जो इस देश में सब से प्राचीन हैं। ऐसा यहां के सब लोग कहते हैं कि ये चिन्ह वास्तव में उन लोगों के हैं जिस जाति के लोगों को "*सराक-सरावक*" कहते हैं। जो शायद भारत के इस भाग में सब से पहले बसने वाले है।

(A.S.B. 1868 N. 35)

अनेकों जैन मन्दिर और जैन तीर्थंकरों.गणधरों श्रमणों श्रावक-श्राविकाओं की मूर्तियां आज भी इस प्रदेश में सर्वत्र इधर उधर बिखरी पड़ी हैं। जो कि सराक लोगों के द्वारा निर्मित तथा प्रतिष्ठित कराई गयी थीं।

"They are represented as having great scruples against taking life. They must not eat till they have seen the sun and they venerate Parashvanath. (A.S.B. 1868 N. 35)

"The jain images are a clear proof of the existence of the jain Religion in these parts in old times. (A.S.B. 1868)

सिंहभूम में तांबे की खानें व मकान हैं। जिन का काम प्राचीन लोग करते थे। ये लोग श्रावक थे। पहाड़ियों के ऊपर घाटी में व बस्ती में बहुत प्राचीन चिन्ह हैं। यह देश श्रावकों के हाथ में था। "मेजर टिकल" ने 1840 A.D. में लिखा है "कि सिंहभूम श्रावकों के हाथ में था जो अब करीब-करीब नहीं रहे। परन्तु तब वे बहुत अधिक थे उनका असली देश सिखरभूमि (सम्मेतशिखर पर्वत के आस पास की भूमि) और पांचेत कहा जाता है (जर्नल एसि० 1840 सं० 696)

एकदम विलुप्त हो गया। इस विषय का अनुसंधान करना विशेष

यह सब तरफ बात मानी हुई है कि सिंहभूम का एक भाग ऐसे लोगों के पास था जिन्हों ने अपने प्राचीन स्मारक मानभूम जिले में रख छोड़े हैं। ये वास्तव में बहुत ही प्राचीन लोग थे। जिन को श्रावक या जैन कहते हैं। कोलहन में भी बहुत से सरोवर हैं जिन को "हो" जाति के लोग "सरावक सरोवर" कहते हैं। (बंगाल एथनोलोजी में कर्नल डैलटन)

श्रावक या गृहस्थ जैनों ने जंगलों में घुस कर तांबे की खानें सोधीं जिस में उन्होंने अपनी शक्ति व समय खर्च किया।

(A. S. B. 1869 P. 179-5)

इस जाति के गोत्र :—१. आदिदेव, २. ऋषि (भ) देव ३. अनन्तदेव, ४. धर्मदेव ५. गौतम ६. काश्यप, ७. सिखरिया इत्यादि हैं। जोकि आदिदेव-ऋषभदेव (पहले तीर्थंकर), अनन्तदेव (चौदहवें तीर्थंकर), धर्मदेव (पंद्रहवें तीर्थंकर), गौतम (चौबीसवें तीर्थंकर महावीर स्वामी के प्रथम गणधर), काश्यप (श्री ऋषभदेव आदि तीर्थंकरों का गोत्र), सिखरिया (सम्मेतशिखर को मानने वाले); यह बात स्पष्ट करते हैं कि ये श्रावक लोग अत्यंत प्राचीन समय से अर्थात् भगवान् महावीर से बहुत पहले से ही जैन धर्मानुयायी थे।

इस जाति के अतिरिक्त उग्र क्षत्रीय आदि और भी ऐसी अनेक जातियां बंगालदेश में अब भी विद्यमान है जो कि प्राचीन समय में जैनधर्मानुयायी थीं किन्तु आज वे हिन्दू या बौद्ध धर्मों के अनुयायी हैं।

मि० बेगलर व कर्नल डैलटन के मतानुसार :—ब्राह्मण और उन के मानने वालों ने सातवीं शताब्दी के बाद इन श्रावकों को अपने प्रभाव में दबा लिया जो कुछ बचे व उन के धर्म में नहीं गए वे इन स्थानों से दूर जा कर रहे। मकानों को देखने से संभव होता है कि

प्रयोजनीय है किन्तु यह प्रसंग वर्त्तमान प्रबन्ध का आलोच्य विषय

दसवीं शताब्दी में ब्राह्मणों का जोर हो गया था। परन्तु बसंत विलास से विदित होता है कि चालूक्य विरध वाला-मंत्री वस्तुपाल (ईस्वी सन् १२१६-१२३३) जब इधर तीर्थयात्रा के लिये आया था उस समय लाटा, गादा, मारु, ढाला, आवन्ति एवं बंग के संघपति इस से मिले थे। इस प्रसंग से पता चलता हैं कि तेरहवीं शताब्दी में भी गादा तथा बंग में संगठित जैन संघों के नेता मौजूद थे। और सोलहवीं शताब्दी के बीच में कभी भूमिज लोग पश्चिम उत्तर से नये आये हुओं की सहायता से उन्नति में बढ़े होंगे और उन को (श्रावकों को) जड़मूल से नष्ट किया होगा।

श्रावकों को सताकर कोलेहान से भी निकाला था (जर्नल एसि० 1840 N. 696)।

परन्तु यह बात बड़े गौरव की है कि :—जैनधर्म को भूल जाने पर भी ये लोग अभी तक बंगाल जैसे मांसाहारी देश में रहते हुए भी अभी तक शाकाहारी हैं। इस जाति में मत्स्य तथा मांस का व्यवहार नहीं। यहां तक कि बालक भी मत्स्य या मांस नहीं खाते। मांसाहारी और हिंसकों के मध्य में रहते हुए भी ये लोग पूर्ण अहिंसक हैं। ये लोग श्री पार्श्वनाथ को अपना कुलदेव मानते हैं। सम्मेतशिखर तथा महाराजा खारवेल द्वारा निर्मित जैन गुफाएं जो खंडगिरि, उदयगिरि, नीलगिरि में हैं दर्शन पूजनार्थ जाते हैं। और जब पार्श्वनाथ जी की यात्रा को जाते हैं तो बंगाली भाषा में भगवान् पार्श्वनाथ की प्रशंसा में एक भजन गाया करते हैं :—

तुमि देखे जिनेन्द्र देखिल पातिक पोलाय, प्रफुल हल काय,
सिंहासन छत्र आछे-चामर आछे कोटा। दिव्य देहके मन आछे किवा शोभाय कोटा ॥ तुमि० ॥ क्रोध, मान, माया, लोभ मध्ये किछू नांहि। रागद्वेष मोह नाँहि एमन गोसाई ॥ तुमि० ॥ के मन शाँतमूर्ति बटे, बोले सकल भाया, केवलीर मुद्रा एखन साक्षात् देखाय ॥ तुमि० ॥

नहीं है ।❀ अर्थात् जैनधर्म बंगाल देश से कैसे विलोप पा गया इस का

ओट देवेर सेवा हते संसार बाढ़ाय, पार्श्वनाथ दरश हते मुक्ति पद पाय ।। तुमि०।। कहा केउ ना डाके प्रभु बाटन (रत्न) देवय (देय) मुनीश करे कथा किंवा इन्द्र करे कत सेवा ।। तुमि० ।। हासि प्रभु देखा पाय, भाग्य करे कति, उग्र पुण्य हइते सेवक दर्शन पाति ।। तुमि० ।।

सारांश यह है कि बौद्धों और आर्य-ब्राह्मणों के प्रभाव से, जैन श्रमणों के बंगालदेश में विहार के अभाव से एवं मागधी लिपि के बंगला लिपि में परिवर्तित हो जाने से श्रावक लोग अपने प्राचीनतम जैनधर्म को छोड़ कर हिन्दू और बौद्धधर्मानुयायी हो गये हैं। तो भी दूसरी हिन्दू जातियों से इन में जैनधर्म की आचार सम्बन्धी अनेक विशेषताएं आज भी विद्यमान हैं। जिस से आज भी हिन्दुओं से वे भिन्न प्रतीत होते हैं। (अनुवादक)

❀ बंगाली भाषा के इतिहास सम्बन्धी विश्लेषण करते हुए बंगाली विद्वानों ने लिखा है कि "बंगला भाषार उत्पत्ति मागधी हइते होलो।" अर्थात् बंगाली भाषा की उत्पत्ति मागधी भाषा से हुई है। तथा इन का यह भी कथन है कि आज से लगभग एक हज़ार वर्ष पहले मागधी लिपि से बंगाली लिपि का निर्माण कर सर्व प्रथम बंगाली भाषा में पद्य की रचना की गई तत्पश्चात् गद्य की रचना हुई।

यह बात ध्यान में देने योग्य है कि मागधी जैनागमों की भाषा है तथा जैनागम प्रायः पद्यात्मक हैं। इस लिये ऐसा ज्ञात होता है कि मागधी लिपि के बंगाली लिपि में परिवर्तित हो जाने से बंगाली जनता जैनागमों के पठन पाठन से वंचित हो गई जिस के फलस्वरूप धीरे धीरे वह जैनधर्म को भूल गई तथा अन्य धर्म संप्रदायों में परिवर्तित हो गई।

विवेचन करना इस लेख का विषय नहीं है।

लिपि और भाषा के परिवर्तित होने पर भी उस के अधिकतर शब्दों का उच्चारण प्रायः मागधी भाषा का ही है जैसा कि :—

बंगाली भाषा में लेखन	*मागधी लेखन तथा पठन*	*बंगाली उच्चारण*
आत्मा	आत्ता	आत्ता
लक्ष्मी	लक्खी	लक्खी
गल्प	गप्प	गप्प
अक्षय	अक्खय	अक्खय
निर्मल	निम्मल	निम्मल
गुप्त	गुत्त	गुत्त
शिक्षा	सिक्खा	सिक्खा
संक्षिप्त	संक्खित्त	संक्खित्त

बंगाली विद्वान श्री क्षितिमोहनसेन कहता है कि आज भी बहुत जैन शब्द बंगाल की खासकर पूर्वबंगाल की भाषा में मिलते हैं। जैन लिपि के साथ इतना नागरीलिपि का सम्बन्ध नहीं है। जितना बंगला लिपि का सादृश्य है। जैसा कि :—

बंगलालिपि:— কবি মানিক দেব মোড়া ঘোষ চৌথ নেম

जैन लिपि :— **कवि मानिक ादेव ामोड़ा ाघाष ाचौथ ानम।**

नागरी लिपि :— **कवि मानिक देव मोड़ा घोष चौथ नेम।**

(अनुवादक)

इति।

अनुवादक

लेखक	*व्याख्यान-दिवाकर, विद्याभूषण*
श्री प्रबोधचन्द्र सेन,	**श्री हीरालाल दुगड़**
एम० ए०	***न्यायतीर्थ, न्यायमनीषी, स्नातक***

परिशिष्ट

॥ बंगाल में जैन पुरातत्त्व सामग्री ॥

बंगाल के आसपास तथा बंगालदेश के अनेक स्थलों से प्राचीनकालीन जैन तीर्थंकरों, गणधरों, साधु, श्रावक, श्राविकाओं यक्ष, यक्षणियों आदि की अनेक मूर्तियाँ, ताम्रपत्र, शिलालेख स्तम्भ इत्यादि पुरातत्त्व सामग्री उपलब्ध हुई है, और हो रही है। जिस से प्राचीन जैन इतिहास कुछ प्रकाश में आने लगा है। बंगाल के कुछ हिस्सों में विराट जैन मूर्तिया भैरव के नाम से पूजी जाती हैं। मानभूम, बांकुड़ा वगैरह स्थानों में और देहातों में आजकल भी जैनमंदिरों के ध्वंसावशेष पाये जाते हैं। मानभूम में पंचकोट के राजा के अधीनस्थ अनेक ग्रामों में विशाल जैनमूर्तियों की पूजा हिन्दू पुरोहित या ब्राह्मण करते हैं। वे भैरव के नाम से पुकारे जाते हैं और नीच या शूद्र जाति के लोग वहां पशुबलि भी करते हैं। इन सब मूर्तियों के नीचे जैन लेख अब भी खुदे हुए पाये जाते हैं। अनेक जैनमन्दिर हिन्दू तथा बौद्धधर्म के मन्दिरों में परिवर्तित कर लिये गये हैं।

बंगाल तथा भारत के प्रत्येक विभाग में बहुत सी जैन पुरातत्त्व सामग्री अभी तक भूगर्भ में छिपी पड़ी है। इसी पुस्तिका में अंग्रेज़ी का जो लेख "Jaina Antiquities in Manbhum" प्रकाशित हुआ है, उससे आप ज्ञात करेंगे कि बंगालदेश में यदि सरकार इस भूगर्भ तथा इधर उधर बिखरी हुई जैनपुरातत्त्व सामग्री की शोध खोज की तरफ पूरा ध्यान दे तथा इस की खुदाई करावे तो जैनधर्म के प्राचीन इतिहास तैयार करने को पर्याप्त सामग्री प्राप्त हो। क्योंकि

जैनधर्म के प्राचीन इतिहास को तैयार करने के लिये भारतीय जैन-जैनेतर साहित्य, जैनधर्मानुयायिओं में पाये जाने वाले रीति रिवाज तथा रहन सहन, आचार विचार के ज्ञान के साथ जैनमूर्ति आदि पुरातत्त्व सामग्री भी मुख्य साधन हैं।

भगवान् महावीर—वर्धमान के नाम पर ही बंगालदेश के मानभूम, सिंहभूम और वर्धमान जिलों के नाम पड़े हैं❀। "बंगाल का आदि धर्म" नामक लेख में पहाड़पुर से प्राप्त एक प्राचीन ताम्रपत्र का उल्लेख आया है जिस में लिखा है कि पहाड़पुर के समीप वट-गोहाली के जैन विहार (मंदिर) के लिये एक ब्राह्मण दम्पती ने चन्दन, धूप तथा फूलों द्वारा अर्हत् की पूजा अर्चा को जारी रखने के लिये भूमि दान दी थी। कुछ काल के बाद इस विहार को ब्राह्मण संस्कृति के रूप में परिवर्तित कर लिया गया था और उसके बाद उत्तर बंगाल में बौद्धों का जोर हो जाने से बौद्धों के सुप्रसिद्ध सोमपुर विहार के रूप में परिवर्तित कर लिया गया।†

बंगाल में जो प्राचीन थोड़ी बहुत जैनमूर्तियां प्राप्त हुई हैं और सरकारी संग्रहालयों में सुरक्षित हैं यहां पर उनका संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक प्रतीत होता है। वीरभूम और बांकुड़ा जिलों में समय समय पर जो जैनमूर्तियां मिली हैं तथा वहां बिखरी पड़ी जैन पुरातत्त्व सामग्री को देख कर श्री आर० डी० बनर्जी ने इसे "जैन प्रभाव वाला क्षेत्र" कहा है। श्री के० डी० मित्र द्वारा सुन्दरवन के खास भाग के

❀आई० एच० क्यू० ४ पृष्ठ ४४ साहित्य परिषद पत्रिका १३२२ पृ० ५, जे० बी० ओ० आर० एस १९२७ पृ० ९०।

† जैन भारती वर्ष ११ अंक १ श्री प्रमोद लाल पाल का "बंगाल में जैन धर्म नामक लेख।"

अन्वेषण से कम से कम दस मूर्तियाँ प्रकाश में आयी हैं। श्री प्रमोद लाल पाल लिखता है कि बंगाल में पायी गयी बीस मूर्तियों में से केवल एक श्वेतांबरों की है। इस से विदित होता है कि बंगाल में श्वेतांबरों के बहुत ही कम अनुयायी थे❀। आर० डी० बनर्जी ने भी यही लिखा है कि सब जैन मूर्तियां दिगम्बर सम्प्रदाय की हैं। इन बंगाली लेखकों का अनुकरण करते हुए बिना कुछ विचार किये डा० उमाकांत प्रेमानन्द शाह M. A. Ph. D बड़ोदा वालों ने भी अपनी पुस्तक "Studies in Jaina Art" के पृष्ठ २६ में यही लिखा है कि "All the Jain images belong to the Digambara sect" अर्थात् ये सारी जैनमूर्तियाँ दिगम्बर संप्रदाय की हैं। इस से पहले कि हम इन मूर्तियाँ के विषय में कुछ आलोचना करें, यह आवश्यक प्रतीत होता है कि इन प्राचीन मूर्तियों का कुछ संक्षिप्त परिचय दिया जाय :—

१. दीनाजपुर जिलांतर्गत सुरोहोर से वीरेन्द्र अनुसंधान सोसायटी को एक बहुत ही अलौकिक "सभानाथ" की मूर्ति प्राप्त हुई है। बंगाली विद्वान प्रमोद लाल पाल लिखता है कि "यह मूर्ति मूर्तिनिर्माण विज्ञान के दृष्टिकोण से बहुत ही चित्तरंजक तथा विशेष ज्ञातव्य है। पूर्ण ध्यानावस्थित आकृति मस्तक पर सहयोगी जटाओं के साथ, मस्तक के पीछे गोलाकार प्रभामंडल, पुष्पाहारों के साथ विद्याधरों (इन्द्रों) की जोड़ियां, चार जुड़े हुए हाथों के बीच छत्र, दिव्य उपहारों के चिन्ह एवं पुष्प तथा विभिन्न प्रकार के साजबाजों के साथ मध्य वाली मूर्ति कई हालतों में पालवंश के बैठी हुई बौद्ध

❀ जैन भारती वर्ष ११ अंक १ जनवरी १६५२ श्री प्रमोद लाल पाल द्वारा बंगाल में जैन धर्म नामक लेख।

मूर्ति से मिलती जुलती है। साजबाज सहित सभानाथ का नंगापन तथा इस मूर्ति को इर्द-गिर्द घेरे हूए अन्य २३ तीर्थंकरों की मूर्तियां बड़ी अलौकिक प्रतीत होती हैं।❀

२. वर्धमान जिलांतर्गत अजानी से भगवान् शांतिनाथ की मूर्ति प्राप्त हुई है।

३. बांकुड़ा जिलांतर्गत बाहुलारा हरमशरा, देवलवीरा और सिद्धेश्वरा आदि स्थानों से भगवान् पार्श्वनाथ की अनेक मूर्तियां प्राप्त हुई हैं।

४. एक पाषाण मूर्ति श्री ऋषभनाथ की घाटेश्वर नगर (जो कि चौबीस परगना में स्थित है) प्राप्त हुई है।

५. एक धातु की मूर्ति अम्बिका देवी (भगवान नेमि नाथ की शासन देवी) नगरोला गांव से प्राप्त हुई है।

६. इसी प्रकार मानभूम, सिंहभूम, रांची आदि जिलों में तथा बिहार प्रांत में छोटे नागपुर में अनेक जैनमूर्तियां पायी जाती हैं। इन मूर्तियों पर क्रौंच, स्वस्तिक, चक्र आदि चिन्ह पाये जाते है।

हमारे ख्याल से पुरातत्त्व-वेत्ताओं ने जैन तीर्थंकरों की नग्न मूर्तियों को दिगंबरों की मान कर तथा अनग्न श्वेताम्बरों की मान कर बंगालदेश से प्राप्त इन जैनमूर्तियों को दिगंबर संप्रदाय की कह कर इस बात का अनुमान लगाने में भूल की है कि "इन से विदित होता है कि बंगाल-देश में श्वेताम्बरों के वहुत कम अनुयायी थे तथा दिगम्बरों का समर्थन करने वाले बहुत अधिक संख्या में थे"। क्योंकि ये पुरातत्त्ववेत्ता जैनेत्तर बंगाली विद्वान हैं इस लिये

❀ जैन भारती वर्ष ११ अङ्क १ जनवरी १९५२ प्रमोद लाल पाल द्वारा बंगाल में जैनधर्म का लेख।

उन का दिगम्बरों और श्वेताम्बरों के सूक्ष्मतम भेदों को न समझना एक स्वाभाविक बात है।

दिगम्बर संप्रदाय तीर्थंकरों की नग्न मूर्तियों को ही मानता है तथा श्वेताम्बर संप्रदाय नग्न और अनग्न दोनों प्रकार की तीर्थंकरों की मूर्तियों को मानता है इस लिये इन्होंने दोनों प्रकार की मूर्तियों को पूजा अर्चा के लिये स्थापित किया।

अनेक प्रमाणों में से यहां पर मथुरा के कंकाली टीले से निकली हुई जैन तीर्थंकरों की प्राचीन मूर्तियों के लेखों का प्रमाण पर्याप्त है। वे मूर्तियाँ नग्न और अनग्न दोनों प्रकार की हैं तथा उन की प्रतिष्ठा (स्थापन) करने वाले श्वेताम्बर जैनाचार्य ही थे। क्योंकि उन लेखों में दिये गये गण, शाखा, कुल तथा नाम प्राचीन जैनशास्त्र कल्पसूत्र की स्थविरावली में दी गयी मुनि परम्परा से मिलते हैं। यह शास्त्र श्वेताम्बर जैनों को मान्य है तथा इन में दी गयी मुनि परम्परा भी श्वेताम्बरों को ही मान्य है। परन्तु दिगम्बरों को न तो यह शास्त्र ही मान्य है और न ही यह मुनि परम्परा एवं न ही इस मुनि परम्परा के गण, कुल और शाखाएं। इन मूर्तियों में कुछ ऐसी नग्न मूर्तियां भी मिली हैं जो दिगम्बरों की मान्यता के प्रतिकूल हैं तथा श्वेताम्बरों की मान्यता के अनुकूल हैं। उन मूर्तियों के लेखों को कनिंघम साहब ने तथा डाक्टर बूल्हर साहब ने आर्किआलोजीकल रिपोर्ट में प्रकाशित किये हैं। उन में से कुछ लेखों की नकल यहां दी जाती है।

इन लेखों में जो संवत् दिये हुए है वे इण्डो सेंथियन के राजा कनिष्क, हविष्क, और वासुदेव के समय के हैं। इतिहास-

कारों ने इन का समय ईसा की प्रथम शताब्दी का आंका है। किन्तु कुछ लेख इन मूर्तियों पर ऐसे भी पाये गये हैं जो इन राजाओं के राज्यकाल से भी बहुत पहले के हैं :—

प्रथम लेख :—

"सिद्धं सं० २० ग्री० १-दि० २५ कोटियतो गणतो, वाणियतो कुलतो, वयरीतो सारवातो, सिरिकातो भत्तितो, वाचकस्य आर्य संघ सिंहस्य निवर्त्तनं दत्तिलस्य.... ... ...वि.... ... .लस्य कोट्टंबिणिय जयवालस्य, देवदासस्य नागदिन्नस्य च नागदिन्नाये च मातु सराविकाये दिरणाए दाणं । ई। वर्धमान प्रतिमा ॥"

अर्थ :—विजय ! संवत् २० उष्णकाल का पहला महीना, मिति २५ को कौटिक-गण, वाणिज-कुल, वयरि शाखा, सिरिका विभाग के वाचक आर्य संघ सिंह की निर्वर्तन (प्रतिष्ठित) है। श्री वर्धमान (प्रभु) की (यह) प्रतिमा दत्तिल की बेटी की...... ला की स्त्री, जयपाल, देवदास, तथा नागदिन्न (नागदत्त) की माता नागदिन्ना श्राविका ने अर्पित की।

आर्किआलोजीकल रिपोर्ट में इस लेख की नकल के नीचे सर कनिंघम ने एक नोट भी लिखा है जिस का अर्थ यह है कि यह लेख जो कि संवत् २० ग्रीष्म ऋतु का प्रथम महीना मिति २५ का है इस में वर्णन है कि श्री वर्धमान की प्रतिमा भेंट की। *यह प्रतिमा नग्न है।* इस में कोई सन्देह नहीं है कि यह जैनों के चौबीसवें तीर्थंकर श्री वर्धमान अथवा महावीर का प्रतीक है। यह मूर्ति ई० पू० वर्ष ३७ की है। अर्थात् दो हज़ार वर्ष प्राचीन है।❀

❀ Alaxander Cunningham C. S. I. ने Archeological Report Vol. III Page 31 में plate

दूसरा लेख :—

नमो अरहंताण, नमो सिद्धाण सं० ६२ ग्र० ३ दिन ५ अस्यां पूर्वाये रारकस्य आर्य्य कक्क संघस्तस्य शिष्य आतपिको गहवरी यस्य निर्वतण चतुर्वण संघस्य या दिन्ना पडिमा ग० वैहिकाये दत्ति ।।

अर्थ :—अरहंतों को नमस्कार, सिद्धों को नमस्कार, संवत् ६२*, उष्णकाल का तीसरा महीना मिति ५ को आर्य कक्क संघ के शिष्य आतपीक औगहक आर्य द्वारा प्रतिष्ठित करवा कर चतुर्वर्ण संघ की अर्चना के लिये अर्पण की।—

तीसरा लेख :—

सिद्धं। महाराजस्य कनिष्कस्य राज्ये संवत्सरे नवमे (९) मासे प्रथ० (१) दिवसे ५, अस्याँ पूर्वाये, कौटियतो गणतो, वाणियतो कुलतो,

---

No. 6, script No. 13, Samvat 20 Jain Figure. में लिखा है कि :—

This inscription which is dated in the Samvat year 20, in the first of Grishma (the hot season) the 25th. day, records the gift of one statue of Vardhman (Pratima l) an as the figure is naked. There can be no doubt that it represents the Jain Vardhman or Mahavira the twentyfourth Pontiffs. (B. C. 37)

* यह संवत् इंडो सेंथियन नरेशों के साथ सम्बन्ध नहीं खाता किन्तु इन के पहले के किसी राजा का संवत् प्रतीत होता है। क्योंकि उस लेख की लिपी अत्यन्त प्राचीन है। (डाक्टर बूल्हर)

वयरितो साखातो वाचकस्य नागनंदिस्य निवर्तनं ब्रह्मधूतये भट्टिमित्तस्य कोडु बिणिये विकडाये श्री वधंमानस्य प्रतिमा कारिता सव्वसत्त्वानं हित-सुखाये।

अर्थ :—विजय! महाराजा कनिष्क के राज्य में नवें वर्ष के पहिले महीने में मिति ५ के दिन ब्रह्मा की बेटी, भट्टिमित्र की स्त्री विकटा ने सर्व जीवों के कल्याण तथा सुख के लिए कीर्तिमान वर्धमान की प्रतिमा कौटिकगण (गच्छ), वाणिज कुल और वयरी शाखा के आचार्य नागनन्दि की *निर्वर्तना* (प्रतिष्ठित) है। (यह मूर्ति ए. कनिंघम के मत से ई० पू० वर्ष ४८ की है)।

जब हम कल्पसूत्र पर दृष्टि डालते हैं, तो उस मूलपाठ वाली प्रति के पत्रे ८१–८२ एस० बी० ई० वाल्युम २२ पत्र २९३ से हमें ज्ञात होता है कि सुट्ठिय (सुस्थित) नामक आचार्य ने जो श्री महावीर प्रभु के आठवें पट्ट प्रभावक थे "कौटिक" नामक गण स्थापन किया था। उस के विभाग रूप चार शाखाएं और चार कुल हुए। तीसरी शाखा "वयरी" थी तथा तीसरा वाणिज नामक कुल था। कल्पसूत्र का मागधी भाषा का पाठ यह है।

"थेरेहिंतो णं सुट्ठियसुप्पडिबुद्धेहिंतो कोडिय काकंदिएहिंतो वग्घावच्चस गुत्तेहिंतो इत्थणं कोडियगणे णामं गणे निग्गए। तस्सणं इमाओ चत्तारि साहाओ, चत्तारि कुलाइं एवमाहिज्जंति। से किं तं साहाओ? साहाओ एवमाहिज्जंति, तं जहा-उच्चनागरी १. विज्जाहरी २. वयरी य ३. मज्झिमिल्ला य ४. कोडिय गणस्स एया हवंति चत्तारि साहाओ।१। से तं साहाओ।

से किं तं कुलाई? कुलाइं एवमाहिज्जंति, तंज्जहा-पढमित्थ बंभलिज्ज बिइयं नामेण वित्थलिज्जंतु, तइयं पुण वाणिज्जं, चउत्थयं पण्हवाहणयं।२।

इस से स्पष्ट है कि मथुरा से प्राप्त प्राचीन जैनमूर्तियों के लेखों में जो गण, कुल और शाखाओं के नाम दिये गये हैं, वे सब कल्पसूत्र के साथ मिलते हैं।

चौथा लेख :—

(पंक्ति १) संवत्सरे ६० व........कोडुबिनी वेदानस्य बधुय।

(पंक्ति २) को (टितो) गणतो (प्रश्न) वाह (न) कतो कुलतो, मज्झिमातो साखातो......सनीकाये।

*(पंक्ति ३) भत्ति सालाए थंबानि..........**

इस उपर्युक्त लेख का सम्पूर्ण अर्थ करना संभव नहीं है क्योंकि लेख अनेक स्थानों से नष्ट हो गया हुआ हैं तथापि प्रथम पंक्ति के अधूरे लेख से ऐसा अनुमान करना ठीक प्रतीत होता है कि इस को अर्पण करने का काम किसी स्त्री ने किया है। दूसरी पंक्ति का अर्थ इस प्रकार है :—कौटिकगण, प्रश्नवाहनक कुल, मध्यमा शाखा से।

जब हम कल्पसूत्र के लेख को देखते हैं तो यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि ये कुल और शाखा भी कल्पसूत्र से मिलते हैं।

"थेराणं सुट्ठियसुप्पडिबुद्धाणं कोडिय काकंदगाणं इमे पंच थेरा अन्तेवासी अहवच्चाए अभिराणया होत्था, तंजहा–थेरे अज्ज इंददिण्णे पियग्गंथ थेरे विज्जाहर गोवाले कासवगुत्ते णं, थेरे इसिदत्ते, थेरे अरिहदत्ते थेरेहिंतो णं पियग्गंथेहिंतो इत्थणं मज्झिमा साहा निग्गया।

से किं तं कुलाइं एवमाहिज्जंति, तंजहा पढमित्थ बंभलिज्जं बिइयं नामेण वत्थलिज्जं तु, तइयं पुण वाणिज्जं, चउत्थयं पणहवाहणयं।

---

* A Canningham Arch. Report Vol. III P. 35. Plate No. 15, Script No. 19.

अर्थात्—इस कल्पसूत्र में ऐसा वर्णन है कि सुस्थित सुप्रतिबुद्ध आचार्य के दूसरे शिष्य प्रियग्रंथ स्थविर ने मध्यमा शाखा स्थापित की।

पांचवां लेख :—

सं० ४७, ग्र० २, दि० २० एतस्यां पूर्वाये चारणे गणे, पेतिधम्मिक (कुल) वाचकस्य, रोहणंदिस्य सीसस्य सेनस्य निर्वतणं, सावक दर..........प्रपा (दि) न्ना..........।※

अर्थ ;—संवत् ४७, ग्रीष्म काल का दूसरा महीना, मिति २० को चारण गण, पेतिधम्मिक (प्रीतिधर्मिक) कुल के आचार्य रोहनन्दि के शिष्य सेन के उपदेश से श्रावक इत्यादि। (यह लेख सर कनिंघम के मत से ईस्वी पूर्व १० वर्ष का है)

जब हम कल्पसूत्र से मिलान करते हैं तो यह गण और कुल भी इस से मेल खाता है।

पाठ :—*थेरेहिंतो णं सिरिगुत्तेहिंतो इत्थणं चारणे गणे णामं गणे निग्गए, तस्सणं इमाओ चत्तारि साहाओ, सत्त य कुलाइं एव माहिज्जंति—*

से किं तं कुलाइं? कुलाई एवमाहिज्जंति तंजहा पढमित्थ वत्थलिज्जं, बीअ पुण पीइधम्मिअ होइ।

अर्थात् :—स्थविर श्री गुप्त से चारण गण निकला तथा चारण गण से प्रीतिधर्मिक शाखा निकली।

छठा लेख :—

सिद्धं। नमो अरहते महावीरस्थ देवस्य राज्ञा वासुदेवस्य संवत्सरे ९८, वर्षामासे ४ दिवसे ११ एतस्ये पूर्वाये आर्य्य रोहनियतो

※ A. Canningham C, S. 1. Arch. Report Vol. III page 33. Plate No. 10 Script. 14. (B. C. 10)

गणतो परिहासक-कुलतो पोणपत्रिकातो साखातो गणिस्य आर्य्य देवदत्तस्य न................

इस का अर्थ इस प्रकार है :—

विजय। ॐ अर्हत् महावीर देव का नमस्कार करके राजा वासुदेव के संवत् ६८ वर्ष में, वर्षा ऋतु के चौथे महीने में. मिति ११ के दिन आर्य रोहण के द्वारा स्थापित किये हुए गण के, परिहास कुल के, 'पौर्णपत्रिका' शाखा के गणि आर्यदेवदत्त के।

इन उपर्युक्त सब लेखों को पढ़ने से डाक्टर बूल्हर लिखते हैं कि :—

१. संवत् ५ से ६८ तक अथवा ईस्वी सन् ८३ से १६६-६७ मध्यवर्ती काल में मथुरा के जैन साधुओं के अनेक गण, कुल तथा शाखाएं थीं।

२. तथा इन लेखों में लिखे हुए साधुओं के नाम के साथ वाचक, गणि, आचार्य आदि उपाधियों का भी उल्लेख है। ये उपाधियां जैनधर्मानुयायी उन यति साधुओं को दी जाती थीं, जो साधु सम्बन्धी शास्त्रों (जैन जैनेतर शास्त्रों) के प्रकांड विद्वान होते थे। तथा ये पदवीधारी साधु और श्रावकों को इन शास्त्रों को समझाने में निपुण होते थे। जिस साधु को गणि (आचार्य) पदवी दी जाती थी वह उस गच्छ का नेता माना जाता था। इस लिये यह उपाधि बहुत बड़ी समझी जाती थी। वर्तमान काल में भी इसी पुरानी रीति के अनुसार आचार्य पदवी प्रमुख साधु को देने की पद्धति है।

३. शालाओं (गणों) में से कौटिकगण की बहुत शाखाए हैं। इस लिये इसका बहुत बड़ा इतिहास होना चाहिये।

४. यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि इन लेखों से यह प्रमाणित होता है कि कौटिकगण ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी में अवश्य विद्यमान था। तथा उस समय में जैनधर्म की प्राचीनकाल से चली आने वाली आत्मज्ञानवाली शिष्य परम्परा भी अवश्य विद्यमान थी। उस समय जैन साधु अपने धर्म के प्रसार के लिये सदा तत्पर रहते थे तथा इस काल से पूर्व भी अवश्य तत्पर रहते होंगे।

५. जब कि उस समय में जैन साधुओं में वाचक पदवीधारी भी विद्यमान थे, तो यह बात भी निःसन्देह है कि उन वाचकों से शास्त्रों का अभ्यास करने वाले साधुओं के अनेक गण (समूह) भी अवश्य विद्यमान थे तथा जिन शास्त्रों का पठन पाठन होता था वे शास्त्र भी अवश्य विद्यमान थे।

६. ये लेख कल्पसूत्र में वर्णित स्थविरावली से बराबर मिलते हैं, अर्थात् जिन गणों, कुलों, शाखाओं का वर्णन कल्पसूत्र में आता है उन्हीं गणों, कुलों, शाखाओं का इन लेखों में उल्लेख है।

अतः यह लेख निःसंदेह प्रमाणित करते हैं कि श्वेताम्बर जैनों के परम्परागत शास्त्र बनावटी नहीं हैं अर्थात् श्वेताम्बर जैनों के शास्त्रों को लगाये गये बनावटीपन के आरोप से ये शिलालेख मुक्त करते हैं।

७. तथा इन लेखों से यह बात निःसंदेह सिद्ध हो जाती है कि उस समय श्वेताम्बर जैनों की वृद्धि और उन्नति खूब थी।

८. मथुरा के इन सब लेखों से यह बात भी स्पष्ट है कि उस समय मथुरा शहर में बसने वाले जैन लोग श्वेताम्बर जैन धर्मानुयायी थे।

डाक्टर बूल्हर के इतने विवेचन के बाद अब हम बंगालदेश से प्राप्त जैन मूर्तियों के विषय में कुछ आलोचना करेंगे।

बंगालदेश के दीनाजपुर जिलांतर्गत सुरोहोर से प्राप्त 'सभानाथ' की जिस चित्तरंजक नग्न मूर्ति का वर्णन हम पहले कर आये हैं वह मूर्ति भी श्वेताम्बर जैनों की मान्यता के अनुकूल है। किन्तु दिगम्बरों की मान्यता के प्रतिकूल है। क्योंकि दिगम्बरों को तीर्थंकर के सिर पर बाल होना सर्वथा अमान्य है।

यह "सभानाथ" की नग्न मूर्ति प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभनाथ की है। "कल्पसूत्र" में श्री ऋषभनाथ ने जब दीक्षा ग्रहण की थी उस समय का वर्णन इस प्रकार है :—

"यावत् आत्मवैव चतुर्मौष्टिकं लोचं करोति, चतुस्टभिमुष्टिभिर्लोचे कृते सति अविशिष्टां एकां मुष्टिं सुवर्णवर्णयोः स्कन्धयोरुपरि लुठंति कनककलशोपरि विराजमानानां नीलकमलमिव विलोक्य हृष्टचित्तस्य शक्रस्य आग्रहेण रक्षत्वान्"। (कल्पसूत्र व्या० ७ पृ० १५१ देवचन्द्र लालभाई ग्रंथांक ६१)

अर्थात् श्री ऋषभनाथ प्रभु ने गृहत्याग कर दीक्षा ग्रहण करते समय "अपने आप चार-मुष्टि लोच की। चार-मुष्टि लोच कर लेने पर सोने के कलश पर विराजमान नीलकमल-माला के समान बाकी रहे हुए मुष्टि प्रमाण सुनहरी बालों को प्रभु के कंधों पर गिरते हुए देख कर प्रसन्न चित्त वाले इन्द्र के आग्रह करने से प्रभु ने (अपने सिर पर) रहने दिये।"

इस से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि यह मूर्ति जिसे "सभानाथ" की मूर्ति के नाम से उल्लेख किया गया है, वह प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभनाथ की ही है और उनके मस्तक पर जो जटाएं हैं वे पांचवी मुष्टि वाले छोड़े हुए बालों का आकार है। (देखें चित्र नं० १)

परन्तु दिगम्बरों की मान्यता ऐसी नहीं है। उनका कहना है कि ऋषभनाथ से लेकर महावीर पर्यन्त सब तीर्थंकरों ने पंचमुष्टि

लोच की थी। किसी भी तीर्थंकर के सिर पर बिल्कुल बाल नहीं थे। उसका वर्णन इस प्रकार है :—

ततः पूर्वमुखं स्थित्वा कृतसिद्ध नमस्क्रियः। केशानलुंचदाबद्ध पल्यङ्कः पंचमुष्टिकम्॥ निलुच्य बहुमोहाग्रवल्लरीः केशवल्लरीः। जातरूपधरो धीरो जैनीं दीक्षामुपाददे।

(दिगम्बर जिनसेनाचार्य कृत महापुराण-पर्व १७ श्लोक २००-२०१)

अर्थात्—"तदनन्तर भगवान् (ऋषभदेव) पूर्व दिशा की ओर मुंह कर पद्मासन से विराजमान हुए और उन्होंने पंचमुष्टि केशलोच किया। धीर भगवान् ने मोहनीय कर्म की मुख्यलताओं के समान बहुत सी केश रूपी लताओं को लोच कर यथाजात अवस्था को धारण कर जिन दीक्षा ग्रहण की।"

हम लिख चुके हैं कि श्वेतांबर जैनों को तीर्थंकरों की नग्न मूर्तियां वैसे ही मान्य हैं जैसे कि अनग्न मूर्तियां इस की पुष्टि के लिए एक प्रमाण और देते हैं। श्री कल्पसूत्र में वर्णन है कि:—

"प्रथमांतिम जिनयोः शक्रोपनीतं देवदूष्यापगमे सर्वदा अचेलकत्वम्।"
(कल्पसूत्र सुबोधिका व्या० १ पृ० १)

चतुर्विंशतेरपि तेषां (जिनानां) देवेन्द्रोपनीतं देवदूष्यापगमे तदभावादेव अचेलतत्वम्।" (कल्पसूत्र किरणावली व्या० १ पृ० १)

अर्थात्—तीर्थंकर प्रभु जब दीक्षा ग्रहण करते हैं तब शक्रेन्द्र उनको देवदुष्य वस्त्र देता है। "वह देवदूष्य वस्त्र प्रथम और अंतिम जिनेश्वर का गिर जाने से वे सर्वदा नग्न रहे। तथा "चौबीस तीर्थंकरों को इन्द्र द्वारा दिया हुआ देवदूष्यवस्त्र गिर जाने से वस्त्र के अभाव से नग्न रहे।" (देखें चित्र नं० २)

इन उपर्युक्त प्रमाणों से भी यह स्पष्ट है कि श्वेतांबरों को तीर्थंकर की नग्न अवस्था की मूर्ति भी वैसे ही मान्य है जैसे कि अनग्न इसी लिये वे तीर्थंकर की अनग्न तथा नग्न दोनों प्रकार की मूर्तियों की प्रतिष्ठा कराकर उन की पूजा अर्चा करते हैं।

एवं इस "सभानाथ" की मूर्ति के इर्द-गिर्द जो गोलाकार प्रभामंडल, विद्याधरों द्वारा फूलमालाएं तथा पुष्प, साज़-बाज़ तथा चार जुड़े हाथों के बीच में तीन छत्र इत्यादि चिन्ह अंकित है वे तीर्थंकर के आठ प्रातिहार्यों के चिन्ह हैं। तीर्थंकर को ये प्रातिहार्य केवलज्ञान होने के बाद होते हैं। उन के नाम ये हैं :—

"अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिर्दिव्यध्वनिश्चामरमासनं च।
भामंडलं दुन्दुभिरातपत्रं सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम्।१।

अर्थ :—तीर्थंकरों के १-आशोकवृक्ष, २-देवताओं द्वारा पुष्पवृष्टि ३-दिव्यध्वनि, ४-चामर, ५-सिंहासन, ६-भामंडल, ७-दुन्दुभि, ८–छत्र; ये आठ वस्तुएं (तीर्थंकर के साथ प्रतिहारी के समान होने से) प्रातिहार्य हैं।

अतः इस उपर्युक्त मूर्ति में जो १. गोलाकार प्रभामंडल (भामंडल), २—विद्याधरों द्वारा पुष्पमालायें तथा पुष्प (पुष्पवृष्टि), ३—साज बाज़ (दुन्दुभि), ४—चार जुड़े हुए हाथों के बीच में छत्र, ५—दो इन्द्र चामर ले कर खड़े हैं (चामर), ६—बैठने का स्थान (सिंहासन) इत्यादि चिन्ह अंकित हैं।

इस से यह स्पष्ट है कि यह मूर्ति आठ प्रातिहार्य सहित केवलज्ञान अवस्था की प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभनाथ भगवान की सिर पर बालों की जटाओं सहित ध्यानावस्था में अन्य

तेईस तीर्थंकरों सहित "श्वेतांबर जैनों को मान्यता के अनुकूल होने से श्वेतांबरों की है। परन्तु दिगम्बरों की मान्यता के प्रतिकूल होने से दिगम्बरों की कदापि नहीं हो सकती।

अतः प्रतिमा नग्न है मात्र इसी कारण से दिगम्बरों की प्रतिमा कह देना न्याय संगत नहीं है। मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त नग्न तीर्थंकरों की मूर्तियों के लेखों से तो हमारे इन विचारों को अत्यन्त पुष्टि मिलती ही है।

परन्तु इस बात को अधिक स्पष्ट करने के लिये हम श्रीऋषभ-नाथ सहित दो तीर्थंकरों की एक और नग्न मूर्ति का परिचय देना चाहते हैं। यह प्रतिमा देवगढ़ के किले में जैन मन्दिर में है इस प्रतिमा के बीचोबीच श्री ऋषभनाथ की पद्मासन में बैठी हुई मूर्ति है तथा इस के दोनों तरफ दो तीर्थंकरों की नग्न खड़ी ध्यानस्थ अवस्था की मूर्तियां हैं। इन के नीचे दो श्वेतांबर जैन साधुओं की मूर्तियाँ अंकित हैं। बीच में स्थापनाचार्य है इस के एक तरफ़ साधु के हाथ में मुखवस्त्रिका है तथा दूसरी तरफ़ एक साधु मुंहपत्ति का पडिलेहन करता हुआ दिखाई दे रहा है। (देखें चित्र नं० ३)

क्योंकि दिगम्बर साधु अपने पास मुखवस्त्रिका बिल्कुल नहीं रखते थे और आज कल भी जो दिगम्बर साधु मौजूद हैं उन के पास भी मुखवस्त्रिका नहीं होती। इस लिये इस में सन्देह को कोई स्थान नहीं रह जाता कि यह नग्न मूर्ति भी श्वेतांम्बर जैनों की ही है। तथा श्वेतांबर आचार्य द्वारा ही प्रतिष्ठा करायी गयी है।

चित्र नं० ५

श्री ऋषभनाथ प्रतिमा (पाषाण) त्रिपुरी से प्राप्त

(इंडियन म्यूज़ियम)

देखें पृष्ठ नं० ७७

चित्र नं० ६

जीवतस्वामी की धातु प्रतिमा अकोटा से प्राप्त
(बड़ौदा म्यूज़ियम)
देखें पृष्ठ नं० ७६

हमारी यह भी धारणा है कि कलिंगदेश में खंडगिरि, उदयगिरि में महाराज खारवेल द्वारा निर्मित जैन गुफ़ाएं तथा बंगाल, बिहार और उड़ीसा से प्राप्त जैन तीर्थंकरों के मन्दिर और मूर्तियां प्रायः उन जैन श्वेताम्बर आचार्यों द्वारा स्थापित किये गये होने चाहियें जिन के गणों, कुलों और शाखाओं का "कल्पसूत्र" में वर्णन आता है। "बंगाल का आदि धर्म" नामक लेख में हम देख चुके हैं कि बंगालदेश में "निर्ग्रंथों की चार शाखायें—१—ताम्रलिप्तिका, २—कोटिवर्षिया, ३—पौंड्रवर्द्धनिया, ४—दासी खर्व्वटिया थीं। श्री कल्पसूत्र में इन का उल्लेख इस प्रकार है :—

"थेरस्स णं अज्जभद्दबाहुस्स पाईणसगोत्तस्स इमे चत्तारि थेरा अंतेवासी. अहावच्चा अभिरणाया होत्था, तंजहा १—थेरे गोदासे, २-थेरे अग्गिदत्ते, ३—थेरे जरणदत्ते ४—थेरे सोमदत्ते कासवगुत्ते णं। थेरेहिंतो गोदासेहिंतो कासव गुत्ते हिंतो इत्थणं गोदासगणे नामं गणे निग्गए, तस्सणं इमाओ चत्तारि साहाओ एवमाहिज्जंति, तंजहा—तामलित्तिआ, कोडिवरिसिया, पोंडवद्धणिया. दासीखव्बडिया"।

(कल्पसूत्र व्या० ८ पन्ना २५५-५६ आत्मानन्द जैन सभा भावनगर)

अर्थात्—जैनाचार्य भद्रबाहु स्वामी के चार शिष्य थे। गोदास, अग्निदत्त, जिनदत्त, सोमदत्त। स्थविर गोदास से गोदास नाम का गण निकला तथा इस गण में से ताम्रलिप्तिका, कोटिवर्षिया, पौंड्रवर्धनिया और दासी खर्व्वटिया ये चार शाखायें निकलीं।

भद्रबाहु स्वामी सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के समकालीन थे। उन के शिष्य गोदास के नाम से गोदास गण की स्थापना हो कर उस

से जो उपर्युक्त चार शाखाएं निकलीं इन का समय ईसा पूर्व तीसरी चौथी शताब्दी ठहरता है। इससे बंगाल, बिहार, उड़ीसा से पाये जाने वाले जैन स्मारक तथा मूर्तियां ईस्वी पूर्व तीसरी शताब्दी मौर्य काल से लेकर कुशान काल, गुप्त काल इत्यादि को व्यतीत करते हुए ईसा की तेरहवीं शताब्दी तक की हैं। जिस में जैन तीर्थंकरों की मूर्तियाँ नग्न और अनग्न दोनों तरह की हैं।

तथा ऐसा भी ज्ञात होता है कि कलिंगदेशाधिपति चक्रवर्ती खारवेल द्वारा निर्मित हाथीगुफ़ा आदि जैन गुफ़ाएं भी इन्हीं 'निर्ग्रंथों' के उपदेश से ही तैयार कराई गयी होंगी। क्योंकि खारवेल के हाथीगुफ़ा के शिलालेख से ज्ञात होता है कि उसने जैन मुनियां को वस्त्रदान भी दिये थे। जिन मुनियों को चक्रवर्ती खारवेल ने वस्त्र दान दिये थे वे जैन श्वेताम्बर मुनि इन उपर्युक्त चारों शाखाओं में से होने चाहिये। खारवेल का समय ईसा पूर्व पहली अथवा दूसरी शताब्दी है और इन शाखाओं की स्थापना ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में हो चुकी थी।

खेद का विषय है कि बंगालदेश से प्राप्त प्राचीन जैन मूर्तियों के सिंहासनों पर खुदे हुए लेखों को अभी तक पुरातत्ववेत्ताओं ने पढ़ने का कष्ट नहीं उठाया। उनकी ऐसी उपेक्षावृत्ति से अभी तक बंगाल का जैनधर्म सम्बंधी प्राचीन इतिहास प्रकाश में नहीं आ सका। हमारी यह धारणा है कि जब ये लेख पढ़े जायेंगे तब जैन इतिहास पर बहुत सुन्दर प्रकाश पड़ेगा। पी० सी० चौधरी Jaina Antiquities in Manbhum में लिखते हैं कि :—

"A number of inscriptions on the pedestals of some of the images have been found. They have not yet been properly deciphered or studied. A proper

study of the inscriptions and the images supported by some excavations in well identified area of jaina culture will no doubt throw a good deal of light on the history of culture in this part of the country extending over two thousand years."

अर्थात्—कई जैन तीर्थंकरों की मूर्तियों के सिंहासनों पर लेख खुदे हुए पाये जाते हैं। उनको न तो अभी तक पढ़ा ही गया है और न उन का पर्यालोचन ही किया गया है। यदि इन लेखों का वाचन किया जावे तो इस क्षेत्र के दो हज़ार वर्ष पुराने जैन सभ्यता और इतिहास प्रकाश में आयेंगे।

इतने विवेचन के पश्चात् हम इस निर्णय पर आते हैं कि :—

१. जैन तीर्थंकरों की नग्न मूर्तियां श्वेतांबर, दिगम्बर दोनों संप्रदायों को मान्य हैं।

२. मथुरा के कंकाली टीले से तथा बंगालदेश से प्राप्त जैन तीर्थंकरों की मूर्तियां "श्री कल्पसूत्र" में जिन श्वेतांबर जैन मुनियों के गणों, कुलों और शाखाओं का उल्लेख है उन्हीं की शिष्य परम्परा ने प्रतिष्ठा (स्थापना) करवाई थी। इस लिये ये सब श्वेताम्बर जैनों की मूर्तियां है।

३. दो हज़ार वर्ष प्राचीन जैन मूर्तियों पर खुदे हुए लेखों से ज्ञात होता है कि उस समय श्वेताम्बर जैनधर्म का इन देशों में सर्वत्र प्रसार था। और उस समय के राजा, महाराजा तथा उनके मंत्री आदि भी इसी प्राचीन जैनधर्म को मानते थे तथा उसका आदर भी करते थे।

४. इस से यह भी स्वतः सिद्ध हो जाता है कि दिगम्बरों की यह मान्यता कि "श्वेतांबर संप्रदाय अर्वाचीन है और विक्रम संवत्

के १३६ वर्ष बाद निकला है" निराधार और कल्पित मात्र है। इन दिगम्बरों के "दर्शनसार नामक ग्रंथ में श्वेतांबरों की उत्पत्ति के विषय में प्राकृत भाषा की यह एक गाथा पायी जाती है :—

"छत्तीस वास सए विक्कम निवस्स, मरण पत्तस्स।
सोरट्ठे वल्लहीए, सेवड संघ समुपन्नो ॥"

अर्थ :—"राजा विक्रमादित्य की मृत्यु के १३६ वर्ष बाद सौराष्ट्र देश की वल्लभी नगरी में श्वेतपट (श्वेतांबर) संघ उत्पन्न हुआ।"

प्राचीन जैन संघ से दिगम्बर संप्रदाय का अलग होना एकांत नग्नत्व का आग्रह ही था इसी कारण से महावीर के शासन में संघ-भेद हुआ। संघभेद होने का प्रसंग बड़ा मनोरंजक है परन्तु इस निबंध का यह आलोच्य विषय नहीं है।

हम लिख आये हैं कि श्वेतांबर तीर्थंकरों की नग्न और अनग्न दोनों प्रकार की मूर्तियां मानते हैं इस लिए उन्होंने पूजा अर्चा के लिये दोनों तरह की मूर्तियां स्थापित की, हर्ष का विषय है कि आज भी अनेक श्वेतांबर जैनमंदिरों में श्वेतांबर जैनाचार्यों द्वारा प्रतिष्ठित जैन तीर्थंकरों की अनेक नग्न मूर्तियां विद्यमान हैं।

नग्न मूर्तियों के विषय में पर्याप्त आलोचना की जा चुकी है। अब हम जैन तीर्थंकरों की अनग्न मूर्तियों के विषय पर भी संक्षिप्त उल्लेख करना उचित समझते हैं।

हम लिख आये हैं कि श्वेतांबरों की यह मान्यता है कि तीर्थंकर जब दीक्षा ग्रहण करते हैं तब उन्हें इन्द्र देवदूष्य वस्त्र देता है तथा देवदूष्य के गिर जाने के बाद से वे नग्न अवस्था में रहते हैं उस समय उन के अतिशय के प्रभाव से उन का नग्नत्व

चित्र नं० ५

इंडियन म्यूज़ियम

श्री ऋषभनाथ प्रतिमा (पाषाण) त्रिपुरी से प्राप्त

(इंडियन म्यूज़ियम)

देखें पृष्ठ नं० ७७

चित्र नं० ६

जीवतस्वामी की धातु प्रतिमा अकोटा से प्राप्त
(बड़ौदा म्यूजियम)
देखें पृष्ठ नं० ७६

दिखलाई नहीं देता। इसी मान्यता के अनुसार श्वेतांबरों ने जैन तीर्थंकरों की लंगोट वाली प्रतिमाएं भी पूजा अर्चा के लिये स्थापित कीं अतः ऐसी प्राचीन प्रतिमायें भी अनेक स्थानों में भूगर्भ से प्राप्त हुई हैं। (देखें चित्र नं० ४) और आज भी श्वेतांबर जैन मंदिरों में सर्वत्र स्थापित हैं।

श्वेतांबर जैन तीर्थंकरों की पंचकल्याणक वाली मूर्तियां भी मानते हैं। इन मूर्तियों में तीर्थंकर के १—च्यवन (गर्भ) कल्याणक के चिन्ह रूप गर्भ अवस्था में इन की माता को आने वाले स्वप्न अंकित होते हैं। २—जन्म कल्याणक रूप अभिषेक कराने के चिन्ह अंकित होते हैं। ३—दीक्षा कल्याणक रूप मूर्ति में केश लुंचन वाली तीर्थंकर की मुद्रा होती है। ४. केवलज्ञान कल्याणक रूप आठ प्रतिहार्यों के चिन्ह अंकित होते हैं। ५. निर्वाण कल्याणक रूप तीर्थंकर की ध्यानस्थ शैलेशीकरणमय मुद्रा होती है। (देखें चित्र नं० ५) किसी किसी तीर्थंकर प्रतिमा में प्रभु के शरीर पर मुकुट कुंडल, अलंकारों के चिन्ह भी होते हैं वे सब जन्म कल्याणक के समय इन्द्र द्वारा तीर्थंकर प्रभु को पहनाये हुए अलंकारों अथवा जब प्रभु दीक्षा लेने के लिये शिविका में विराजमान होते हैं उस समय सुसज्जित अलंकारों के चिन्ह अंकित होते हैं। ऐसी प्राचीन मूर्तियाँ भी अनेक स्थानों से मिली हैं।

तीर्थंकरों की जीवतस्वामी की मूर्तियाँ भी श्वेतांबरों ने पूजा अर्चा के लिये स्थापित की हैं। ऐसी प्राचीन कालीन प्रतिमायें भी पुरातत्त्व विभाग को मिली हैं। यहां पर एक ऐसी प्राचीन प्रतिमा का परिचय दे कर इस लेख को समाप्त करेंगे।

श्वेताम्बर जैनों के मान्य आवश्यक चूर्णि तथा निशीथ चूर्णि एवं वसुदेव हिंडी नामक शास्त्रों में जीवतस्वामी की मूर्ति निर्माण तथा उस की पूजा अर्चा का वर्णन भी पाया जाता है। इस का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है :—

विद्युन्माली देव ने सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए महाहिमवान् नामक पर्वत से अत्युत्तम जाति का चन्दन लाकर, उस चन्दन की गृहस्थावस्था में कायोत्सर्ग ध्यान में स्थित भाव साधु श्री भगवान् महावीर परमात्मा की मूर्ति निर्माण कर प्रतिष्ठा की तत्पश्चात् इस मूर्ति को कल्पवृक्ष की पुष्पमालाओं से पूजन कर चन्दन की पेटी में बन्द कर दिया और समुद्र में जाते हुए एक जहाज़ में (आकाश मण्डल से) डाल दिया। जब यह जहाज़ सिंधु सोवीर देश के वीतभयपट्टन नामक नगर में पहुंचा तब वहां के राजा उदायी की रानी प्रभावती (राजा चेटक की पुत्री तथा भगवान् महावीर की मौसी जो कि जैनधर्म को दृढ़ उपासिका—श्राविका थी) ने बड़े भावभक्ति से अर्हन् प्रभु की पूजा-अर्चा आदि करके उस पेटी को खोला। विद्युन्माली देव द्वारा निर्मित और कल्पवृक्ष की फूलमालाओं से पूजित इस जीवतस्वामी की मूर्ति का नया जैनमंदिर बनवा कर उस में स्थापन किया और उस मूर्ति की स्वयं निरंतर तीनों समय (प्रातः, मध्यान्ह तथा सायं) पूजन करने लगी।

ऐसी अनेक जैन तीर्थंकरों की "जीवतस्वामी" अवस्था की अनेक प्राचीन मूर्तियां सरकारी पुरातत्व अन्वेषकों को खोदाई करते हुए प्राप्त हुई हैं। जो कि पद्मासन और खड़ी कायोत्सर्ग

अवस्था (दोनों अवस्थाओं) में ध्यानस्थ हैं। उन के शरीर पर मुकुट, कुंडल, मालाएं, कंकन इत्यादि अलंकार खुदे हुए हैं। तथा अनेक स्थानों में ऐसी मूर्तियां इधर उधर पड़ी हुई भी मिलती है। ई. सन् १६३० में मैं ने एक ऐसी ही जीवतस्वामी की प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव की पद्मासनासीन पाषाण प्रतिमा को अजमेर नगर के इन्द्रकोट में मुसलमानों की "ढाई दिन का झोंपड़ा" नामक मस्जिद में एक वृक्ष के नीचे रखी देखी थी। ई० सन् १६३४—३५ में विहार के राजग्रही नगर के एक पर्वत पर भी मैं ने एक ऐसी ही मूर्ति देखी थी जो कि सरकार पुरातत्व विभाग ने एक प्राचीन जैनमन्दिर के ध्वंसावशेष को खोदवाने से अनेक अन्य जैनमूर्तियों के साथ प्राप्त की थी।

एक ऐसी ही जैन तीर्थंकर की अति प्राचीन खंडित धातु मूर्ति अकोटा के समीप पुरातत्व अन्वेषकों को प्राप्त हुई है जो कि बड़ौदा म्यूजियम में सुरक्षित है :—

यह प्रतिमा धातु से निर्मित जिस में तीर्थंकर के शरीर पर मुकुट, कुंडल, तथा अन्य भी अनेक प्रकार के अलंकार अंकित हैं कायोत्सर्ग मुद्रा में है। खेद है कि इस प्रतिमा के नीचे का भाग खंडित हो जाने से इस पर अंकित लेख नष्ट हो चुका है। परन्तु फिर भी कला की दृष्टि से पुरातत्वान्वेषकों का मत है कि यह मूर्ति ईसा से पूर्व काल की है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि महावीर की गृहस्थावस्था के समय की चन्दन की मूर्ति का वर्णन कल्पना नहीं परन्तु विश्वास पात्र है। (देखें चित्र नं० ६)

इतने विवेचन के बाद हम इस निर्णय पर आते हैं कि :—

१. श्वेतांबर जैन संप्रदाय अति प्राचीन काल से तीर्थंकर

की अनेक अवस्थाओं की मूर्तियां आराधना के लिये प्रतिष्ठा करता आ रहा है जिस का समावेश नग्न और अनग्न दोनों तरह की मूर्तियों में होता है। तथा इस से यह भी स्वतः सिद्ध है कि अलंकारों सहित जैन तीर्थंकरों की मूर्ति की मान्यता भी जैनों में उतनी ही प्राचीन है जितनी कि नग्न मूर्ति की मान्यता।

लेखक :—

व्याख्यान-दिवाकर, विद्याभूषण

पं० श्री हीरालाल जी दूगड़ जैन;

न्यायतीर्थ, न्यायमनीषी, स्नातक।

JAINA ANTIQUITIES IN MANBHUM

It is now almost forgotten that the district of Manbhum in Chotanagpur Division of Bihar had once been a great centre of Jainism. Probably in no other district in India could be found more ancient Jaina antiquities lying in neglect than in Manbhum. Manbhum was the district through which one had to pass while going from Bengal or Bihar to Utkal or Orissa.

It will be remembered that Jainism as a creed had once a very great hold on Orissa. The antiquities in Khandagiri Caves in Orissa are unique specimens of Jaina antiquities. The famous Jaina King Kharavela of Utkal or Orissa came upto Barabar Hills in Gaya where he had left his impress. Manbhum was the via media through which the contacts between Bihar and Orissa were maintained. This may be one of the reasons why there are so many Jaina antiquities scattered all over the district of Manbhum.

Hiuen Tsang, the Chinese traveller in India in the 7th Century A. D., mentions that he came across a province which he called "Safa". General Cunningham mentioned that Bara Bazar of the Barabhnm Pargana was the headquarters of this "Safa" province. Mr. Hibert, however, identifies Dalmi, which is near Patkumas the capital of "Safa" Province. There are some ancient remains which are clearly of Jaina origin at Dalmi hills. Srawakas or lay Jainas in this part of the district were a great factor at one time. The Srawakas occupied important areas in Manbhum district and were predecessors to the Bhumij population in Manbhum. They were mostly engaged in some sort of trade. The district of Manbhum was very important for the inter-district and inter-province trade routes connecting Benaras, Jagannathpuri and Tamralipta, an important port in Bengal. Even now there are a large number of Jainas scattered all over the district of Manbhum. For our purposes we have included the present sub-district of Dhanbad as a part of Manbhum. There is no doubt that Dhanbad will very soon attain the status of a full district.

Preaching of cult by Mahavira

Tradition ascribes to Lord Mahavira having visited the Province of "Safa" when he was on tour for the spread of his cult. It is said that the aboriginals who were in an ovewhelming majority in the "Safa" province were not very keen to listen to or follow Mahavira and he was even molested by them. But undaunted, Lord Mahavira went about preachnig his cult and ultimately his sense of sobriety and saintliness touched the heart of the tribal population and many were converted to Jainaism.

Balrampur commonly known as Palma Balrampur, a village about four miles from Purulia is on the bank of river Kasai. There is a temple at Balrampur in which there are a number of Jaina images some of which are clearly of the Jaina Tirthankaras. Some of the images have the Jaina *Chinhas* and are apparently quite old. An inscription on a stone fixed to a pillar was found at this village. The inscription was removed several years back by an agency commonly ascribed to be a Settelment Officer and now could be seen fixed by the road side within the Court compound.

At Boram, a big village situated four miles south from Jaipur railway station, there are three temples in ruin which are said to be constructed by the Srawakas or the lay Jainas. These three temples are identical in design. These temples have Jaina images and were originally Jaina shrines. To the south about a mile away from Boram there is a shrine where there are images in nudity. This by itself is a clear proof that the images are Jaina in origin. The shrine is now taken to be a Hindu temple.

Collection in Patna Museum

Chandankiari, another village a few miles away from Purulia, the headquarters of Manbhum district, is the place where a large number of Jaina antiquities

were accidentally found. The collection in Patna Museum of the images of the Jaina Tirthankaras that were found in Chandankiari makes one of the finest collections of Jaina antiquities in India. Most of these images have been identified by the clear *Chinhas* or special emblems of the Tirthankars. Some of the figures are exquisite from the artistic point of view. The worksmanship is delicate and superb. They are all of the 11th Century A. D. There are two other villages within five miles of Chandankiari, namely, Kumhri and Kumardagga, where also there are some old Jaina images. At both these villages inscriptions have been found one of which has been removed by a local gentleman.

Among the other old Jaina remains in Manbhum district, particular mention need be made about the Jaina temples and sculptures at the small village of Pakbira, twenty miles north-east of Bara Bazar or 32 miles by Purulia-Puncha Road in Manbhum (Purulia) district. They had attracted the attention of the Archaeological Department. J. D. Beglar in the Archaeological Survey of India, Vol. VIII, mentioned about the remains at Pakbira.

Image of Shri Bahuhalji

A mela is held at Pakbira in the month of Chaitra where animal sacrifices used to be held. Since the last few years animal sacrifices are not being offered owing to persuasion by the Jainas. An attempt is being made by some of the leading Jainas of Purulia and Ranchi to build a temple at Pakbira and to preserve the Jaina antiquities. There are now three temples in ruins and about 20 images lying collected at three places. The temples are buried and the *Shikhars* (tops) of the temples are to be seen. A number of images are also lying half-buried One of the images is 5 cubits high and of Shri Bahubal ji. Unfortunately this image of Shri Bahubal ji has developed a crack. This image is worshipped at present by the villagers as Bhaironath. There are arrangements to give a bath to the image of Shri

Bahubal ji. The image is now well besmeared with oil and vermilion owing to the worship by the Hindus as Bhaironath. A number of the images laying scattered are in *Khargasan* pose. The images also include, Parswanath Mahavir ji, Padmavati and Rishavdev. The images are apparently ancient and an opinion has been hazarded that they may be 2000 years old. Carvings are superb and most of the images are still intact.

Figures of Father and Mother

Apparently Pakbira was a very important place at one time. Several smaller villages nearabout Pakbira although they have separate names are commonly grouped under the name of Pakabira. At some of these smaller villages there are exquisitely carved stoor door jambs or pillars. In the neighbouring village of Pankha these are four images which have been damaged. One of them is that of Shri Rishavdev with 24 Tirthankaras on the sides There is another rare specimen at this village. On a stone slab a tree of the height of 2 cubits has been carved with a child sitting at the top of the tree. Under the tree there are figures indicating father and mother and the mother is with a baby. The figure depicting a father has got the sacred thread. Near them stand seven persons. It is difficult to come to a correct appraisal of this specimen but probably it indicates the birth of some Tirthankara.

In the neighbouring village of Budhpur there are a number of images which are worshipped once annually. Some of these images are Jaina specimens. All the images have been removed by individuals.

The next important group of Jaina shrines in ruins are found at Dulmi, twentyfive miles west of Bara Bazar. Dulmi is a small village on the banks of Subernarekha river. There are numerous mounds, some of stone and other of bricks. The Jaina temples are all exclusively at the extreme north end of what was probably the old city according to Beglar. Dulmi is a an ancient place.

The old Temple At Deoli

A few miles from Dulmi is the small village of Deoli. There is a group of old temples at Deoli and they all appear to have been Jaina. In the sanctum of the largest temple there is in situ a Jaina figure known as Arhanath. Hindu electicism has claimed the figure as one of the Hindu Pantheam and the figure is now worshipped by the Hindus as well. The statue is three feet high and on a pedestal. The figure of an antelope sculptured on the pedestal and two rows of three naked figures each over the head cut on each side make out there clear Jaina origin. The main temple which is now in ruins consists of a sanctum, antarala, and a mahamandapa. There are a number of small temples by the side of the main temple. Under a tree within the distance of half a mile there is a Jaina figure in nudity with the serpent-hood above the head. Research and exploration in this area are bound to bring out more relics.

It is also to be noted that a large number of inscriptions are lying scattered in different parts of the district of Manbhum. It is recently that a concerted attempt is being made through a historical society at Purulia to collect these inscriptions and to have them properly deciphered. There are inscriptions found at villages Karcha, Bhawanipur, Palma Anai, Bauridih, Kumhri, Kumardaga, Chaliana, Simagunda and Jaida, all in Manbhum Sadar. Some of these inscriptions particularly at villages Karcha Bhawanipur, Palma, Anai and Bauridih have probably references to Jainism as there are many Jainas antiquities found at the places where inscriptions were detected. The largest inscription is at Simagunda near Nimidih Railway Station and contains silines.

Marks of lot of Vandalism

There are several other villages which were not noticed by Beglar but which evidently had exclusive

Jaina images when Beglar travelled through the district. Some of these Jaina antiquities are still to be seen although there has been a lot of vandalism on them. One of the most important of such village is Karcha about six miles from Purulia. There are a large number of Jaina statues and five ancient mounds, the excavation of which is likely to yield fruitful results. At Bhawanipur which is about one mile to the east of Karcha village an inscription has been found on the pedestal of an undoubtedly Jaina Tirthankara Rishavnath.

This village Bhawanipur, about 8 miles east of Purulia was apparently a centre of Jainism in the past. The clear image of Rishavnath has 24 Tirthankars engraved on the sides and there are also the usual figures of *Chamaris, Incensors* and *Yakshis*. By the sides of this image under a tree the writer also saw another small image of Chakreshwari Devi. Under another tree nearby in the same village of Bhawanipur there is a Jaina figure of a person on an animal which looks like a *Makar* (crocodile). The seated person has a sword in one hand and a bell in the other. The animal in this figure is taken by some as a dog but there is no place of a *Kukurbahan* image (where the dog is the mode of conveyance). Under the same tree there is also an image of Padmavati and Dhanendra. Apparently the image has been torn from its environments.

Another such village is Anai about three miles from Karcha on the river Kasai. Near about Anai village there are other ruins of brick built old temples some with broken images and some without any. Many of the images that had been observed in these Jaina temples 30 years back have disappeared by now. The village of Bauridih near Ladurka is on Purulia-Hara Road at a distance of 11 miles. It has recently yielded to the efforts of a Purulia historical society five Jaina images three of which are Rishavnath, Chandra-

prabhu and Parswanath respectively as made out from the *Chinhas*. The two other images are of the 24th Tirthankar Mahavira. Peculiarly enough in this village an inscription on a piece of stone has been used in the masonry work within the ring of a well. This clearly shows that the stone slabs containing images and inscriptions were open to free vandalism in the hand of unscrupulous public.

A Rich field for Research

Strangely enough Manbhum is a district where there are Jaina antiquities in abundance lying exposed and neglected. The more one enquires the more relics come to one's knowledge. The little known village Pabanpur in Barabhum Pargana was obviously an important Jaina centre in olden times. There are a number of ruined temples and broken antiquities. Some of these temples have exquisite carvings. On all sides of the temple there are damaged images of the Tirthankars. Another small village, Par at a distance of four miles from Anara Railway Station has also certain Jaina antiquities but there has not been any exploration of the area. Some of the antiquities of this area had been sent to Calcutta Museum and are preserved there. One of them is a 2 ft. high image of Shanti Nathji in *Khargasan*. This is slightly damaged.

Probably because the Jaina images, many of, which are still unbroken, are lying exposed under trees or on sites which were once temples, very little attention has been paid to them. The cluster of images that the witer saw at

various parts of the district in neglected spots remind one as to what a commotion would have been made had they been discovered as a result of a digging. As no State protection has been given, they have been freely utilised on the walls of private houses or temples. Manbhum offers a rich field for research into the evolution of Jainisn in this area, its relationship with orthodox Hinduism, Saivism and Vaishnavism. A number of inscriptions on the pedestals of some of the images have been found. They have not yet been properly deciphered or studied. A proper study of the inscriptions and the images supported by some excavations in well identified area of Jaina culture will no doubt throw a good deal of light on the history of culture in this part of the country extending over two thousand years.

By P. C. Roy Chaudhury, M.A., B.L.

Amrit Bazar Patrika, Annual Puja Number 1956.

जैनधर्म बंगाल का प्राचीनतम धर्म था

यह बात निःसन्देह है कि बंगाल-देश में वैदिक आर्यधर्म ने जैन, बौद्ध एवं आजीवक धर्मों के बाद प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। बंगालदेश में सर्व प्रथम किस भारतीय धर्म ने प्रतिष्ठा एवं विस्तार प्राप्त किया था ? इसी प्रश्न के उत्तर के लिये अब यहाँ विचार करने की आवश्यकता है। हम पहले विस्तार पूर्वक लिख आये हैं कि बंगालदेश में जैन, बौद्ध एवं आजीवक धर्मों का विस्तार तथा इन्हें ही प्रतिष्ठा प्राप्त थी। इन में से भी प्रथम दो शताब्दी तक बंगालदेश में बौद्धधर्म प्रतियोगिता के कारण प्रसार प्राप्त न कर सका था। अतएव जैन और आजीवक धर्मों को ही बंगाल के आदि धर्म स्वीकार करना होगा। हम पहले लिख आये हैं कि उत्तरवर्ती काल में आजीवकधर्म संभवतः जैनधर्म में मिल गया था। इस लिये ईसा की सातवीं शताब्दी में ह्यूंसांग ने बंगालदेश में आजीवक संप्रदाय को नहीं देखा था किन्तु निर्ग्रंथों (जैनों) का ही यथेष्ठ प्रभाव देखा था।

श्री प्रबोधचन्द्र सेन एम.ए.